।। ओ३म् ।।

आदित्यप्रकाश

(सप्तमकिरण)



लेखक एवं सम्पादक

इं० आदित्यमुनि वानप्रस्थ

मो० 09425605823

*

प्रकाशक

गङ्गा प्रकाशन मन्दिर

एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर

कोलार रोड, भोपाल- ४६२०४२ (म०प्र०)

मो० 09425605823

कहाँ-क्या ?

संस्करण- प्रथम (आर्यसमाज स्थापना दिवस, ८ अप्रैल, २०११ ई॰)

मूल्य- १०/-दस रुपये (डाक-व्यय सहित)

मुद्रक-दृष्टि आफसेट, इन्दिरा प्रेस परिसर, महाराणा प्रताप नगर, भोपाल-११

हमारे आगामी प्रकाशन-

आर्य कौन ?

(वेदाध्ययन की वैज्ञानिक विधि)

इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए पिछली किरण में किए गए निवेदन पर हमें अभी तक दो व्यक्तियों से ११,००० रु॰ की आर्थिक सहायता प्राप्त हो चुकी है। अतः यह पुस्तक हमने कम्पोज करने के लिए दे दी है, जो लगभग ५०० पृष्ठों की होगी। इसमें चारों वेदों में आए 'आर्य' सम्बन्धी ४० वेदमन्त्रों की विस्तृत व्याख्या होगी।

आज का वेद

आज के युग के लिए उपयोगी चारों वेदों से चयनित एवं विषयवार वर्गीकृत लगभग १,५०० वेदमन्त्रों का मन्त्रार्थ सहित यह एक अभूतपूर्व ग्रन्थ होगा जिसको पढ़ने के बाद चारों वेदों के २०,३७९ वेदमन्त्रों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। इसके लिए मन्त्रसङ्कलन का कार्य पूरा हो चुका है। अब मन्त्रार्थ किया जा रहा है जिसमें एक-दो वर्ष का समय लग सकता है। इसके बाद यह ग्रन्थ आकर्षकरूप में प्रकाशित किया जाएगा। आर्यसमाजियों के लिए यह उनकी गीता का काम करेगा।

हमारे वेद-मन्थन का एक अध्याय पूरा हुआ

'आर्यसेवक' के फरवरी-मार्च, २००४ के संयुक्ताङ्क से पं० वी० उपेन्द्रराव (भोपाल) की **'वेदों के विषय में कुछ शङ्काएँ एवं निष्कर्ष'** लेखमाला से आरम्भ करके वेद प्रचारिणी सभा, नागपुर के माध्यम से अक्टूबर, २००६ में उनके द्वारा ही पूछे गए **'चतुर्वेदविदों से वेद-विषयक शत साङ्केतिक प्रश्न'**, पुनः **'आर्यसमाज प्रहरी'** से होते हुए अब **'आदित्यप्रकाश'** के माध्यम से अपना प्रकाश बिखेरता हुआ हमारा यह **'वेद-मन्थन'** का एक सप्तवर्षीय अनुष्ठान उसकी इस सप्तम किरण के साथ पूरा हो रहा है।

'आर्यसेवक' के प्रकाशन-स्थगनोपरान्त हमें वेद प्रचारिणी सभा, नागपुर द्वारा प्रस्तावित एक **'विद्वन्मिलनम्'** के लिए जिन एक सौ प्रश्नों को आर्यसमाज के कोई ४० विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत कराना पड़ा था, उन सबका समाधान करने के लिए जब उसके कोई एक वा सामूहिक रूप से कई विद्वान् भी सामने नहीं आए, तो हमें स्वयं ही अपनी ओर से १०,००० रु० के पुरस्कार की घोषणापूर्वक उन प्रश्नों के समाधान प्राप्त करने के लिए विवश होना पड़ा। फलस्वरूप वाराणसी की आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा से उत्तर देने के लिए निर्धारित समय सीमा बीत जाने पर उनके जो उत्तर हमें कम्प्यूटर-टङ्कित २०१ पृष्ठों के माध्यम से ४ अगस्त, २००७ को मिले, उन्हें हमने उनकी इच्छानुसार कि *"प्रश्नों का कर्त्ता कौन है? यह मुझे अभी तक नहीं ज्ञात हो पाया। जो भी हों, उन तक इन उत्तरों को अवश्य पहुँचायें।"* मैंने उन्हें पं० उपेन्द्रराव की टिप्पणियों के लिए दे दिया। वैसे भी यदि **विद्वन्मिलनम्** होता तो वे उसमें प्रश्नकर्ता के रूप में अवश्य ही उपस्थित रहकर उत्तरदाताओं के उत्तरों पर अपनी प्रतिक्रिया वा टिप्पणी करते ही, तभी तो वेद प्रचारिणी सभा द्वारा नियुक्त अध्यक्ष उन पर अपना कोई निर्णय दे पाता। पं० उपेन्द्रराव से ये टिप्पणियाँ मिल जाने पर मैंने उन्हें २२ सितम्बर, २००७ को रजिस्ट्री द्वारा आचार्या सूर्यादेवी जी के पास वाराणसी भेज दिया जिस पर उन्होंने मुझे २६ सितम्बर, २००७ को फोन पर कहा और लिखा भी कि *"उत्तर-पुस्तिका का पूरा मैटर* ***'परोपकारी'*** *में भेज दीजिए। श्री उपेन्द्रराव जी के प्रश्नों की प्रश्न-समीक्षा भेजने का कष्ट न करें।"* परन्तु हमने दोनों को ही वहाँ क्रमशः २७ सितम्बर और १९ अक्टूबर, २००७ को भेज दिया। तब से यह सब सामग्री वहाँ पिछले तीन-साढे तीन वर्षों से अप्रकाशित पड़ी रही।

फरवरी-मार्च, २००८ में मेरा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यालय

दिल्ली में स्वामी अग्निवेश जी के निमन्त्रण पर जाना हुआ। वहाँ मैं इस सब सामग्री की एक छायाप्रति भी लेते गया। तब वहाँ **'वैदिक सार्वदेशिक'** के प्रबन्ध सम्पादक डॉ॰ सुरेन्द्रसिंह कादियाण ने इस सामग्री को अपने पत्र में धारावाहिक रूप से प्रकाशित करने की मुझसे इच्छा प्रकट की। अतः मैं उन्हें भी इसका एक सेट देकर आ गया। बाद में उन्होंने इस सामग्री को प्रो॰ रमेशचन्द्र शास्त्री (फरीदाबाद) को उनकी निर्णायक टिप्पणियाँ प्राप्त करने के लिए दे दिया और मुझे उनके क्रमशः प्रकाशन का वचन दिया जो फिर कभी पूरा नहीं हुआ।

लेकिन पिछले जनवरी मास में मुझे आचार्य आनन्दप्रकाश जी (आन्ध्रप्रदेश) से फोन पर सूचना मिली कि आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा ने अपने उत्तरों को अब कोलकाता में प्रकाशित करा दिया है। बाद में नागपुर से वेदप्रचारिणी सभा के सचिव श्री उमेश राठी ने भी हमें फोन किया कि उनके किसी परिचित ने प्रकाशित उत्तरों की एक पुस्तक कोलकाता से लाकर उन्हें दी है। अब तो **परोपकारी**, फरवरी, २००७ (द्वितीय) में इसके सम्बन्ध में एक समाचार भी प्रकाशित हो चुका है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रकाशित पुस्तक की कोई भी प्रति मुझे वा प्रश्नकर्ता पं॰ उपेन्द्रराव को अब तक नहीं भेजी गई है। ऐसे में हमें नहीं पता कि उस पुस्तक में हमें भेजे गए उत्तर ही प्रकाशित किए गए हैं, वा पं॰ उपेन्द्रराव की टिप्पणियों को दृष्टिगत रखते उनमें कुछ संशोधन किए गए हैं! जो भी हो इस तथ्य को तो छिपाया ही गया है कि प्रश्नकर्ता ने आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा के उत्तरों पर कोई टिप्पणियाँ भी कर रक्खी हैं। अतः हम उन टिप्पणियों को अब **'चतुर्वेदविद् : आमने-सामने'** शीर्षक पुस्तक सम्पादित कर प्रकाशित किए दे रहे हैं। अब हमारे पाठक उन्हें मूल प्रश्नों, उनके आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा द्वारा दिए गए उत्तरों और इन उत्तरों पर पं॰ उपेन्द्रराव द्वारा की गई टिप्पणियों को एक साथ पढ़कर एक निष्पक्ष व्यक्ति के रूप में अपने-अपने निष्कर्ष स्वयं निकाल सकेंगे और वेदों के यथार्थ स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।

विना किसी पूर्वाग्रह के जो भी पाठक इन १०० प्रश्नों में दिए गए चारों वेदों के सभी सन्दर्भों को खोल-खोलकर देखेगा और उत्तरों के लिए निर्धारित नियमों के परिप्रेक्ष्य में आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा के उत्तरों को पढ़ेगा, वह इस निष्कर्ष पर अवश्य ही पहुँचेगा कि आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा के उत्तर एक आर्यसामाजिक वैदिक विद्वान् के मंच से दिए जाने वाले रटे-रटाए सामान्य प्रकार के प्रवचन-जैसे ही हैं। साथ ही उनका स्वतन्त्ररूप से प्रकाशन तो वैसा ही है जैसे एक परीक्षार्थी अपनी स्वयं की उत्तर-पुस्तिका को विना उस परीक्षक (प्रश्नकर्त्ता)

के मूल्याङ्कन के ही प्रकाशित कर दे जिसने उसे १०० में से केवल ५ ही अङ्क दिए हों।

इन सौ प्रश्नों के रूप में हमने महर्षि दयानन्द की **'सत्यार्थप्रकाश'** और **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में व्यक्त वेद विषयक अवधारणाओं को ही कसौटी पर रक्खा था। सो अब हमें खेदपूर्वक यह व्यक्त करना पड़ रहा है कि वे सब इस कसौटी पर खरी नहीं उतरीं। वेद हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ अवश्य हैं, पर न तो वे ईश्वरोक्त ही हैं और न उनकी रचना ही बुद्धिपूर्वक की गई है। वे हमारे पूर्वजों के उद्‌गारों व विचारों के सङ्कलनग्रन्थ-मात्र हैं जो ऋग्वेद, उसके बाद यजुर्वेद, तत्पश्चात् सामवेद और सबके अन्त में अथर्ववेद के रूप में एक-एक करके अस्तित्व में आए हैं। ये सङ्कलन समय-समय पर विभिन्न दृष्टिकोणों से किए गए होने के कारण ही उनमें पुनरुक्तियों की भरमार है।

ये निष्कर्ष मैंने अपनी आयु के ७० वर्ष पूरे करने के बाद अपने लिए निकाले हैं। अत: अब ये ही मेरे शेष जीवन के लिए मार्गदर्शक रहेंगे। एक सम्पादक के रूप में मैंने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए पं० उपेन्द्रराव द्वारा वेदों का जो निष्पक्षतापूर्वक गहन अनुशीलन किया गया है, उसे मैंने लोगों के सामने यथातथ्यरूप में प्रस्तुत कर दिया है। उसको अपनाना वा न अपनाना अब पाठकों का काम है। ऋषि दयानन्द ने भी अपने समय में अपनी जानकारी और बुद्धि के अनुसार ही जिसे सत्य समझा था, उसे ही उन्होंने **'सत्यार्थप्रकाश'** के रूप में संसार के सामने रक्खा था। परन्तु उसे भी आज संसार के सब लोगों ने सर्वांश में कहाँ स्वीकार किया है? अत: जो जिस अन्धकूप में पड़ा हुआ है, वह फिर भी उसमें ही पड़ा रहना चाहेगा। ऐसी ही दशा आज हम आर्यसमाजियों की भी हो गई है जबकि ऋषि दयानन्द का हमारे लिए यह आदेश था कि *"मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे आगे यदि मेरी कोई गलती भी पाई जाए तो उसे परीक्षा करके सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह (=आर्यसमाज) भी एक मत (=सम्प्रदाय) हो जाएगा।"*

आज हमें वेदकालीन आदिमयुग में लौटने की नहीं अपितु भविष्य की ओर उन्मुख होने की आवश्यकता है। भले ही हमारे मूल में वेद ही रहें। आखिरकार आकाश में लहलहाते वृक्ष की जड़ें (मूल) भी तो धरती में ही अदृश्य रहती हैं।

अब भविष्य के लिए मेरी कार्ययोजना में मुख्यत: अपनी नियमित दिनचर्या का पालन करते हुए पृष्ठ-२ पर प्रस्तावित दो पुस्तकों का प्रकाशन करना, अपने पाठकों से आने वाले पत्रों का उत्तर देना और वर्ष में एक वार **'आदित्यप्रकाश'** के माध्यम से अपना समाचार अपने पाठकों को देना सम्मिलित रहेगा। ▪

आर्यसमाज और वेद

प्रिय भाई राजाराम जी आर्य,

सप्रेम नमस्ते!

कई वर्ष के अन्तराल के बाद आपका १३ जनवरी, २०११ का पोस्टकार्ड-पत्र मुझे २७ दिन बाद ९ फरवरी को प्राप्त हुआ था। इससे पूर्व मैं यह समझ रहा था कि कदाचित् आप मुझसे मेरी कुछ परिवर्तित वेद-सम्बन्धी मान्यताओं के कारण रुष्ट चल रहे हैं, इसलिए आप मौन हैं। फिर भी मैंने हिम्मत नहीं हारी और अपनी ओर से **'आर्यसेवक'** और **'आर्यसमाज प्रहरी'** के जिन पाठकों को मैंने **'आदित्यप्रकाश'** भेजना जारी रक्खा, उनमें से एक आप भी रहे हैं। अन्ततोगत्वा एक एडवोकेट होने के नाते आपने हमारी दलीलों को स्वीकार करते हुए लिखा कि *"सचमुच आपके तर्क बहुत बेजोड़ हैं। इसीलिए मैं समझता हूँ कि आर्यविद्वान् आपके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पा रहे हैं।"*

आगे आपने लिखा है कि *"परन्तु मुनि जी, यदि वेद अपौरुषेय नहीं हैं, तो फिर क्या अपौरुषेय है? परमात्मा ज्ञान का भण्डार है, यह तो आप भी मानते हैं। वह ही ज्ञान का आदि स्रोत है। महर्षि दयानन्द वेदों को अपौरुषेय मानते हैं, तो क्या दयानन्द की बात गलत है? मैं कोई विद्वान् नहीं हूँ, परन्तु अन्य लेखकों, विद्वानों को भी पढ़ता हूँ और आपकी पुस्तकों को भी पढ़ता आ रहा हूँ। आप लिखते रहें, किन्तु यदि आर्यसमाज का आधार ही खत्म हो जाएगा तो फिर क्या किया जावेगा, यह विचारणीय है।"*

आपकी ही बात स्थानीय एक आर्यसमाज के प्रधान जी ने भी मुझसे फोन पर कही थी कि आप कहते तो ठीक ही हैं, पर जब आर्यसमाज का मूलाधार ही खत्म हो जाएगा तो फिर वह कहाँ ठहरेगा? अतः आपके प्रश्न का उत्तर देना मुझे आवश्यक प्रतीत होता है।

मेरी दृष्टि में आर्यसमाज का मूलाधार **'सत्य'** है जिसका उल्लेख उसके दश नियमों में सर्वाधिक चार बार हुआ है। *यथा-* पहले ही नियम में बताया गया है कि *"सब सत्य-विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।"* इस नियम के द्वारा यह बताया गया है कि आर्यसमाज एक ईश्वरवादी आस्तिकजनों की संस्था है। दूसरे नियम के द्वारा उस ईश्वर के स्वरूप को बताया गया है। तीसरे नियम में फिर कहा गया है कि *"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना*

और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" इस नियम में भी वेद को इसीलिए स्वीकार किया गया है, क्योंकि ऋषि दयानन्द की दृष्टि में वह सत्य-विद्याओं का पुस्तक है, अन्यथा नहीं। चौथे नियम में फिर सत्य की ही प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि *"सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।"* पाँचवें नियम में भी कहा गया है कि *"सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।"* अपने **'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश'** में भी ऋषि दयानन्द ने सत्य पर ही जोर देते हुए लिखा है कि-

न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्।।

इस प्रकार आर्यसमाज की नींव में वस्तुतः सत्य ही प्रमुख है। अन्य सब मान्यताएँ और स्थापनाएँ दूसरे दर्जे की गौण हैं। इसीलिए आर्यसमाज के सदस्य जब तक अपने जीवनों में इस सत्य को आत्मसात् और चरितार्थ करते रहे तब तक आर्यसमाज का उत्कर्ष होता रहा और वह विश्व भर में प्रतिष्ठित बना रहा। परन्तु जब इस गुण का उसके लोगों में कुछ अभाव हुआ, तो आज आर्यसमाज की जो दुर्दशा हो गई है, वह किसी से छिपी हुई नहीं है।

महर्षि दयानन्द को यजुर्वेद को छोड़कर अन्य वेदों से साक्षात् परिचय गुरु विरजानन्द जी से शिक्षाग्रहण करने के बाद ही हो सका। इसीलिए उनसे ई० सन् १८६३ में शिक्षा ग्रहण करके बाद में वे कुछ काल तक आगरा में रहकर जब ग्वालियर की ओर आए तब वे ऋग्वेद की तलाश में थे। इस प्रकार उन्हें अपने जीवन में अगले २० वर्ष से भी कम समय ही वेदों पर विचार करने के लिए मिल सका जिसमें उन्होंने मुख्यतः अपने गुरु विरजानन्द के निर्देशानुसार प्रायः अपने से पूर्ववर्ती ऋषि-मुनियों की अवधारणाओं को ही स्वीकार करके अपनी निजी मान्यताएँ बनाई और उनका ही जीवनपर्यन्त ईस्वी सन् १८८३ तक प्रचार-प्रसार किया। इसमें वेद का अपौरुषेयत्व का सिद्धान्त भी सम्मिलित था। मेरा मानना है कि यदि वे ५९ वर्ष से अधिक जीवित रहे होते और वे वेदों का उतनी गहराई और विस्तार से अध्ययन कर पाते जितने विस्तार से करने के लिए आधुनिक विद्वानों के पास आज साधन और सामग्री उपलब्ध है, तो वे भी उसी निष्कर्ष पर पहुँच जाते जिस पर आज हम लोग अपनी ७० वर्ष की अवस्था के बाद पहुँच पाए हैं।

सम्भवतः अपनी इसी कमी को दृष्टि में रखकर महर्षि दयानन्द भावी

पीढ़ियों के लिए लिखकर / कहकर गए हैं कि *"मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे आगे यदि मेरी कोई गलती भी पाई जाए तो उसे परीक्षा करके सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह (=आर्यसमाज) भी एक मत (=सम्प्रदाय) हो जाएगा।"*

परमात्मा ज्ञान का भण्डार अवश्य है और वही ज्ञान का आदि-स्रोत भी है। परन्तु वह मनुष्यों को किस प्रकार से प्रेरणा करता है इसका उल्लेख ऋषि दयानन्द ने **सत्यार्थप्रकाश** के सप्तम समुल्लास में इस प्रकार कर ही रक्खा है कि *"जब आत्मा, मन और इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात को करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा, ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों को करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठंता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उस को उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।"*

अब इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि परमात्मा की यह प्रेरणा प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी स्थिति, परिस्थिति और सामर्थ्य पर उसी प्रकार निर्भर करती है जिस प्रकार विभिन्न वाद्ययन्त्रों (बाँसुरी, शहनाई आदि) में एक ही प्रकार की फूँक मारने पर भी अलग-अलग प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं। अतः सृष्टि के आरम्भ के ऋषियों ने जो कुछ भी वेदमन्त्रों के माध्यम से व्यक्त किया, वही आधुनिक ऋषि भी व्यक्त करें, यह आवश्यक नहीं है।

यथा- यदि आदि सृष्टि के ऋषियों ने ऋग्वेद (१०/८५/४५) में यह व्यक्त किया-

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।

अर्थात् *"हे (मीढ्व इन्द्र) वीर्य सेचन में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष! तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा में स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्री! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ। इस वेद की आज्ञा से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें, क्योंकि*

अधिक करने से सन्तान निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुत से दु:ख पाते हैं।" इसी का विस्तार करते हुए महर्षि दयानन्द **सत्यार्थप्रकाश** (चतुर्थ समुल्लास) में लिखते हैं कि *"एक विधवा स्त्री दो अपने लिए और* दो-दो *अन्य चार नियुक्त पुरुषों* के लिए दो-दो *सन्तान कर सकती है और एक मृतकस्त्रीक पुरुष भी दो अपने लिए और* दो-दो *अन्य-अन्य चार विधवाओं के लिए पुत्र उत्पन्न कर सकता है।"* भला आजकल का २१वीं सदी का कोई ऋषि ऐसा कैसे कहेगा और आज का समाज उसे कैसे स्वीकार कर सकेगा? अत: आज का ऋषि ऐसी व्यवस्था नहीं दे सकता है, यद्यपि महाभारत काल तक ऐसा ही होता भी रहा है क्योंकि वेद इसकी आज्ञा देता था और उसमें पति और पत्नी शब्द बहुवचन में भी प्रयुक्त हुए हैं जिसका आशय एक स्त्री के कई पति और एक पति की कई स्त्रियाँ होना जायज रहा है। तभी तो त्रेतायुग में दशरथ के तीन पत्नियाँ और द्वापर में द्रोपदी के पाँच पति तक थे। असामर्थ्य की स्थिति में पाण्डुराजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने अपने लिए नियोग से सन्तान उत्पन्न किए थे। व्यास जी ने भी चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मर जाने पर अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की थी। जानवरों में यह रीति अभी तक प्रचलित है जो मनुष्य-समाज में कभी पहले रही है, पर अब वह सर्वथा अप्रासङ्गिक हो गई है। **इसी कारण आज वेद का कोई अनुयायी आर्यसमाजी भी इसको नहीं अपना रहा है।** अब तो *'हम दो, हमारे दो'* का जमाना आ गया है और शीघ्र ही *'हम दो, हमारा एक'* का जमाना भी आने वाला है। ऐसी स्थिति में आदिमकालीन वेद बहुत अंशों में अप्रासङ्गिक और अनुपादेय हो गए हैं। अत: आवश्यकता इस बात की है कि आज के युग के अनुरूप वेदमन्त्रों का पुन: एक संक्षिप्त सङ्कलन तैयार किया जाए जिसमें विषयवार १५००-१६०० ही वेदमन्त्रों का सङ्कलन हो और उन्हें श्रीमद्भगवद्गीता के समान पदार्थसहित एक जिल्द में प्रकाशित करके सबको **'आज का वेद'** के रूप में उपलब्ध कराया जाए जिसे सब आर्यसमाजी आवश्यकरूप से पढ़ और समझकर हृदयङ्गम कर सकें और उसका अपने जीवन में कुछ लाभ भी उठा सकें। इस पर कार्य हो रहा है और दो-तीन वर्ष में वह सबके सामने आ जाएगा। इससे आर्यसमाज में वेद का कथित आधार भी बना रहेगा और सबको अप्रासङ्गिक हो गए आदिमकालीन वेदों के २० हजार से अधिक मन्त्रों को निरर्थक ही ढोते रहने से भी मुक्ति

मिल सकेगी।

हमारे द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ- (१) यजुर्वेद का अन्तरङ्ग, (२) चतुर्वेदविदों से वेद-विषयक शत साङ्केतिक-प्रश्न, (३) जादू-टोना का प्रेरक यह तान्त्रिक अथर्ववेद और (४) ऋषि दयानन्द का अपना जन्मचरित्र* आपके आर्यसमाज में नहीं हैं। कृपया इन्हें हमारे यहाँ से बुलाकर स्वयं पढ़ें, समझें और दूसरों को पढ़ाएँ तथा समझाएँ। तभी आपका आर्यसमाज अपने को युगानुरूप ढाल सकेगा, अन्यथा वह पिछड़ जाएगा और १९वीं शताब्दी में ही अटक कर रह जाएगा।

भवदीय,

आदित्यमुनि वानप्रस्थ

मो॰ 09425605823

प्रति,

श्री राजाराम आर्य, एडवोकेट; मन्त्री, आर्यसमाज

कुण्डा- २३०२०४, जिला- प्रतापगढ़ (उ॰ प्र॰)

प्रतिलिपि- श्री महेन्द्रकुमार माथुर; प्रधान, आर्यसमाज; बी॰ एच॰ ई॰ एल॰, डी॰ सेक्टर; पिपलानी,भोपाल-४६२०२१ (म॰ प्र॰) को उनसे अतीत में हुई फोन पर चर्चा के सन्दर्भ में सूचनार्थ।

विनीत,

आदित्यमुनि वानप्रस्थ

मो॰ 09425605823

---

* इन चारों पुस्तकों की पृष्ठ संख्या क्रमशः ७२०, ६८, ८४ और ५०० है तथा मुद्रित मूल्य क्रमशः ३५० रु॰, ३५ रु॰, ४० रु॰ और २०० रु॰ है। आप इन सबके लिए और '**आदित्यप्रकाश**' के शुल्क के लिए १०० रु॰ इस प्रकार कुल मिलाकर ६२५ रु॰ हमारे (= आदित्यपाल सिंह) के स्टेट बैंक आफ इण्डिया के बचत खाता क्र॰ **10064526230** में जमा करके हमें मोबाइल पर सूचित कर सकते हैं। इसमें से बैंक अपने ट्रांजेक्शन शुल्क के रूप में २५ रु॰ काट लेगा। शेष बचेंगे ६०० रु॰, जिसमें से लगभग ४० रु॰ डाक-व्यय भी हम ही वहन करेंगे। इससे ५६० रु॰ में आपको ७२५ रु॰ के ग्रन्थ मिल जाएँगे। मनीआर्डर से आप ६०० रु॰ भेज सकते हैं। -*आदित्यमुनि वानप्रस्थ*

राष्ट्रीय आर्य मंच के सदस्यता-अभियान के सम्बन्ध में उसके संयोजक डॉ॰ सुरेन्द्र सिंह कादियाण को हमारे द्वारा २८ जनवरी, २०११ को लिखा गया पत्र

३० रु॰ के व्यय से कुरिअर द्वारा आपका उक्त विषयक पत्र दिल्ली से १५ जनवरी को भेजा हुआ मुझे १७ जनवरी को प्राप्त हुआ जिसके साथ **'कर्मयोगी'** मासिक पत्रिका के फरवरी से दिसम्बर, २०१० तक के ११ अङ्क भी एक साथ ही भेजे गए थे। यदि ये अङ्क प्रतिमास ही मुझे अलग-अलग दो-दो रुपए के डाक-व्यय से पूर्ववत (नवम्बर-दिसम्बर, २००९ के अंकों की तरह) ही भेजे जाते रहते तो मुझे यह जानने में लगभग एक वर्ष का समय नहीं लगता कि मेरा ३० नवम्बर, २००९ को भेजा गया पत्र **'कर्मयोगी'** के फरवरी, २०१० अङ्क में ही उस पर आपकी विस्तृत टिप्पणी सहित छप चुका है। ऐसी स्थिति में मैंने तो यही मान लिया था कि या तो आपको मेरा यह पत्र ही नहीं मिला अथवा वह आपकी दृष्टि में इतना महत्वहीन रहा होगा कि जिससे वह आपकी पत्रिका में स्थान ही नहीं पा सका। साथ ही मेरी ऐसी कोई अहमियत भी नहीं है कि मुझसे किसी प्रकार का पत्राचारादि के माध्यम से सम्पर्क ही बनाए रक्खा जाए। अब लगभग एक वर्ष बाद आपको इसकी आवश्यकता इसलिए आन पड़ी होगी कि **'कर्मयोगी'** के फरवरी, २०१० के अङ्क में **'राष्ट्रीय आर्य मंच के सदस्य बनें'** शीर्षक से जो यह अपील आपकी ओर से प्रथमवार प्रकाशित की गई थी कि "जैसे ही **सदस्य संख्या सौ का आँकड़ा पार कर जाएगी**, सभी सदस्यों की बैठक बुलाकर **'राष्ट्रीय आर्य मंच'** की विधिवत रूप से स्थापना करते हुए इसकी अन्तरङ्ग सभा और शासन निकाय का गठन कर लिया जाएगा।" परन्तु जब पिछले एक वर्ष में भी ऐसा नहीं हो पाया तो अन्तिम विकल्प के रूप में ही आपको हमारी स्मृति आई होगी जो आपने मुझे अपना यह प्रथम पत्र लिख भेजा है। अन्यथा तो आप पिछले तीन वर्षों से हमारी ओर से सर्वथा उदासीन और मौन ही चल रहे हैं।

यदि आपको अपना **'राष्ट्रीय आर्य मंच'** गतिशील बनाए रखना है तो उसका मुखपत्र **'कर्मयोगी'** प्रतिमास ही सभी पाठकों को नियमितरूप से भेजने का प्रबन्ध करें। यदि आपने ऐसा किया होता तो जो कार्य अब तक एक वर्ष पिछड़ गया है, वह न पिछड़ा होता। तब मुझ पर डाक-व्यय भी

११ x २ = २२ रु० + १ रु० स्मरणपत्र तथा नियम-अधिनियम भेजने पर और ५ रु० एक लिफाफीय पत्र भेजने पर इस प्रकार कुल मिलाकर मात्र २८ रु० ही व्यय हुए होते जिससे अन्ततोगत्वा २ रु० की बचत ही होती।

मैं फरवरी-मार्च, २००८ में आपसे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यालय में अन्तिम बार दयानन्द भवन, दिल्ली में मिला था। तब हम कुछ लोगों ने मिलकर पं० उपेन्द्रराव के ग्रन्थ **'यजुर्वेद का अन्तरङ्ग'** को प्रकाशित करने का निर्णय लिया था। एतदर्थ आपने और कुछ अन्य लोगों ने भी १०-१० हजार रुपए का आर्थिक सहयोग देने का मुझे वचन दिया था। इसके लिए आपने वहाँ तब कम्पोजिंग की दरों की जानकारी भी प्राप्त की थी जो तब वहाँ २२ रु० प्रतिपृष्ठ बताई जाने से मैंने उसे यहाँ भोपाल में लाकर यह कार्य मात्र १५ रु० प्रतिपृष्ठ की दर से ही करा देने का कहकर उसे वहाँ से वापस लौटकर कम्पोज करने के लिए भोपाल में दे दिया था। इस प्रकार जब यह पुस्तक पूरी कम्पोज हो गई तो माँग किए जाने पर भी किसी भी आश्वासनदाता व्यक्ति ने मुझे कोई भी राशि नहीं भेजी। इससे इस पुस्तक के प्रकाशन का सारा व्ययभार मुझे ही अकेले उठाना पड़ा। इन आश्वासन देने वालों में आर्यसमाज के नेता, संन्यासी, वानप्रस्थी, विद्वान्, लेखक, सम्पादक और पुरोहित आदि सभी श्रेणियों के व्यक्ति सम्मिलित थे। लेकिन सबने ही एक प्रकार से हमारे साथ विश्वासघात किया। ऐसे विश्वासघाती भले ही कुछ और कोई भी हों परन्तु महर्षि दयानन्द की परिभाषा के सच्चे **'आर्य'** तो नहीं ही हो सकते। प्रकाशनोत्तर इन सभी को हमने यह ग्रन्थ भी भेजा। **'आदित्यप्रकाश'** के अब तक प्रकाशित सभी छः अङ्क भी भेजे, परन्तु किसी ने भी इनकी प्राप्ति को सूचित करने के लिए मुझे ५० पैसे का एक पोस्टकार्ड पत्र तक नहीं भेजा। बाद में पं० अमरदेव शास्त्री (पुरोहित) ने अवश्य हम दोनों (लेखक और प्रकाशक) को ११००-११०० रु०, वस्त्र और दो प्रतियों का मूल्य ५०० रु० प्रदान किए। अन्य किसी ने पुस्तक का मूल्य तक नहीं भेजा।

जब मुझे **'कर्मयोगी'** के नवम्बर-दिसम्बर, २००९ के अङ्क मिले थे तब मैंने उन पर **प्रो० जयदेव आर्य** का नाम भी सह-सम्पादक के रूप में लिखा हुआ पाया था। इसीलिए मैंने अपना ३० नवम्बर, २००९ का पत्र आप दोनों को ही सम्मिलित रूप से लिखा था। परन्तु अब प्राप्त इन ११ अङ्कों में से उनका नाम नदारद है। ऐसा क्यों हुआ? इन अङ्कों को खँगालते हुए

नवम्बर, २०१० के अङ्क के पृ० १० पर मुझे स्वामी उमाशङ्कर सांख्यायन के लेख में यह पढ़ने को मिला-"कर्मयोगी से स्वामी सत्यबन्धु जी व प्रो० जयदेव आर्य को दूर रखने का तात्कालिक कारण भी यही रहा है कि ये दोनों महानुभाव उनसे (अर्थात् आप डॉ० कादियाण से) समन्वय बनाए नहीं रख सके।" इससे भी यही निष्कर्ष निकला कि **'समानशील व्यसनेषु मैत्री'** की उक्ति भी आर्यसमाजी लोगों पर कारगर नहीं हो पा रही है। ऐसे में मेरा भी आप जैसा ही समानव्यसन होने से अन्ततोगत्वा परिणाम कुछ अन्य नहीं होने वाला है!

वैसे मैंने जिस **'आर्य लेखक संघ'** का अतीत में संविधान तैयार किया था और उसकी ओर से **'आर्यसमाज प्रहरी'** नामक मासिक पत्र निकाला था, वह आज कालकवलित हो चुका है। इसका श्रेय लेते हुए अब आपके साथ जुड़े हुए डॉ० रघुवीर वेदालङ्कार जी अपने एक लेख- **'काँच के महल में बैठे ये हमारे मित्र'** में लिखते हैं- *"(ये) वे ही धर्मवीर जी हैं जो आदित्यमुनि जी के विरुद्ध मुझसे लेख लिखाया करते थे। मैंने जमकर लिखा तथा आदित्यमुनि जी को* ***'आर्यप्रहरी'*** *से हाथ धोना पड़ा। अब धर्मवीर जी हमारे लेखों को नहीं छाप रहे हैं, तथापि मैं इस उत्तर को उनके पास ही भेजूँगा तथा प्रार्थना करूँगा कि वे इसे अविकल छापकर निष्पक्ष सम्पादक के स्वरूप को प्रकट करें।* ***'परोपकारिणी सभा'*** *तथा* ***'परोपकारी'*** *उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। इस पर सभी आर्यों का अधिकार है।"* लेकिन डॉ० रघुवीर वेदालङ्कार का यह लेख **'परोपकारी'** में अब तक तो नहीं छपा है और न अब आगे ही छपने की सम्भावना है। इससे कम से कम डॉ० रघुवीर वेदालङ्कार को यह तो पता चल ही जाएगा कि **'परोपकारिणी सभा'** तथा **'परोपकारी'** भी डॉ० धर्मवीर जी की (व्यवहार में) व्यक्तिगत सम्पत्ति ही हैं। निष्पक्ष सम्पादक तो आर्यसमाज के क्षेत्र में केवल **'आदित्यमुनि'** ही हुआ है जो अपने विरोधियों के विचारों को भी प्रकाशित कर देने का साहस रखता था। इसीलिए **'आर्यसेवक'** के सम्पादक के रूप में पाठकों ने उसे कभी **'आर्य सम्पादकाचार्य'** की मानद उपाधि से भी अलंकृत किया था और अब **'आदित्यप्रकाश'** में वह महर्षि दयानन्द की वेद सम्बन्धी कुछ मान्यताओं को खण्डित करने और वेदभाष्यसम्बन्धी कुछ विसङ्गतियों को उद्घाटित करने का भी जोखिम उठा पा रहा है!

डॉ० रघुवीर वेदालङ्कार के उक्त लेख को पढ़कर मैंने श्री अशोक

आर्य (कार्यकारी अध्यक्ष, श्रीमद्दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश न्यास, उदयपुर) को लिखा- *"आपके परिपत्र द्वारा ज्ञात हुआ कि वे डॉ॰ धर्मवीर जी ही थे जिन्होंने मेरे विरुद्ध डॉ॰ रघुवीर वेदालङ्कार से **'परोपकारी'** में लेख लिखवाए थे। अभी तक तो मैं समझ रहा था कि उन्होंने वे स्वप्रेरणा से ही लिखे होंगे। अलबत्ता डॉ॰ रघुवीर वेदालङ्कार को यह भ्रम अवश्य है कि उनके लेखों के कारण ही मुझे **'आर्यसमाज प्रहरी'** से हाथ धोना पड़ा था। दरअसल मैंने डॉ॰ राजेन्द्र विद्यालङ्कार (कुरुक्षेत्र) को कई एक पत्र लिखे थे कि वे अमुक-अमुक प्रक्रिया पूरी करें तो मैं उन्हें भविष्य में निकालने के लिए **'आर्यसमाज प्रहरी'** को सौंप सकता हूँ, परन्तु उन्होंने वैसा कुछ भी नहीं किया और न मेरे किसी पत्र का उत्तर ही दिया। अन्ततोगत्वा मैंने ही बहुत बाद में इस पत्र को घाटे में आ जाने के कारण जून-२००८ तक निकालकर बन्द कर दिया। तब से मैं **'आदित्यप्रकाश'** के रूप में अपने विचारों को अपने पाठकों तक प्रकाशित करके निःशुल्क ही पहुँचा रहा हूँ। पिछले दो वर्षों में ऐसे छः अङ्क निकालकर अब तक मैं उन्हें भेज चुका हूँ। पिछला छठवाँ अङ्क संलग्न है जिससे आप मेरे और पं॰ उपेन्द्रराव के विचारों से अवगत हो सकेंगे जो यद्यपि आर्यसमाज की मान्यताओं से कुछ हटकर हैं तथापि वे अतार्किक नहीं हैं। यह सब इसलिए है क्योंकि मैं आर्यसमाज को एक सम्प्रदायविशेष (दयानन्दसम्प्रदाय) बनने नहीं देना चाहता हूँ अपितु उसे एक प्रगतिशील संगठन बना हुआ देखना चाहता हूँ जो नए-नए विचारों और तथ्यों को आत्मसात् करने की क्षमता रखता हो। ऋषि दयानन्द इस विषय में हमारे प्रेरणा-पुरुष अवश्य हैं, परन्तु हम उनकी सभी बातें आँखें बन्द करके नहीं स्वीकार कर सकते। उनका भी हमारे लिए ऐसा ही निर्देश था और है। लेकिन डॉ॰ रघुवीर वेदालङ्कार, प्रो॰ धर्मवीर आदि कुछ दकियानूसी व्यक्ति भी हैं जो हमारे ऐसे सुलझे हुए और तार्किक विचारों को भी स्वीकार नहीं कर पाते हैं। इसीलिए इनसे आजकल हमारा वैयक्तिक पत्र-व्यवहार तक बन्द है। केवल सांस्थानिक स्तर पर ही एकतरफा (हमारी ओर से) पत्राचार जारी है।"*

'आर्य लेखक संघ' की ओर से **'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा'** का विवाद निपटवाने के लिए हमने स्वयं सम्पादक के रूप में पहल की थी जिससे मैंने तब कैप्टन देवरत्न आर्य का त्यागपत्र तक प्राप्त कर लिया था, परन्तु स्वामी अग्निवेश जी ने ही उस समय ऐसा नहीं किया।

बाद में जब **'वैदिक विरक्त मण्डल'** की स्थापना हुई तो उससे आपने तथा हमने भी **'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा'** के विवाद को सुलटने की आशाएँ बाँधीं। और जब इस संगठन की ओर से इसकी पहल की गई तो स्वामी अग्निवेश जी ने तो अपना त्यागपत्र दे दिया परन्तु इस बार कैप्टन देवरत्न जी ने नहीं दिया जिससे समस्या जहाँ की तहाँ ही अटकी हुई है। अत: मैं तो अब इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हुआ हूँ, जैसा कि मैंने आपको लिखा भी था कि *"सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' एक पंजीकृत संस्था है, जिसका अपना एक संविधान है। अत: इस संविधान में किसी प्रकार का कोई संशोधन अथवा परिवर्तन उसमें निर्धारित प्रक्रिया के अन्तर्गत ही हो सकता है, उसके बाहर नहीं। अत: आपका इस संस्था को एक न्यास में परिवर्तित करने का बाहरी प्रस्ताव उस पर लागू नहीं हो सकेगा। अलबत्ता इससे आप एक नई संस्था अवश्य खड़ी कर सकेंगे, जिससे अभी तक इसके जो मात्र तीन ही पक्ष हैं, वे भविष्य में चार हो जाएँगे। ऐसा प्रयास कुछ लोग पहले कर भी चुके हैं, जो सफल नहीं रहा था। ऐसी स्थिति में जो भी सुधार होना है, वह सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्दर से ही होना चाहिए, बाहर से नहीं। हमने और आप लोगों ने ऐसा प्रयास स्वामी अग्निवेश जी के नेतृत्व वाली सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के माध्यम से अतीत में किया भी था, परन्तु जब वे ही मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए, तब क्या किया जा सकता था? अब तो जब दो पक्ष स्वामी सुमेधानन्द जी के नेतृत्व में एकत्र हो गए हैं, तब तीसरा पक्ष अलग रहकर न्यायालय के निर्णय की ही आस लगाए जी रहा है। लेकिन उसमें भी सफलता मिलने की आशा नहीं दिखाई पड़ती, क्योंकि यह एक बड़ा पेचीदा मामला है जिसका समाधान सभी पक्षों की सहमति के विना नहीं हो सकता।* ***अत: इन्हें ऐसे ही उलझे रहने दीजिए। हार थककर कभी न कभी तो सही रास्ते पर आ ही जाएँगे।"***

श्री अशोक आर्य (कार्यकारी अध्यक्ष, श्रीमद्दयानन्द सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर) को भी मैंने यही लिखा- *"यह दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा कि पिछले सवा सौ वर्षों में आर्यसामाजिक संगठन सत्यार्थप्रकाश का एक सर्वमान्य और पूर्णतया शुद्ध मानक संस्करण भी प्रकाशित नहीं कर सका। यह इस विषय में आर्यजगत् में घोर अराजकता को ही प्रकट करता है। यह अराजकता केवल सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन तक ही सीमित नहीं है अपितु संगठन में भी सर्वत्र व्याप्त है। तभी तो सार्वदेशिक और प्रान्तीय स्तरों पर*

कई-कई सभाओं का अस्तित्व बना हुआ है जिसका कोई सर्वमान्य समाधान अब तक भी नहीं निकल पाया है। इससे संगठन का लाखों रुपया मुकद्दमेबाजी में बरबाद हो चुका है और अब भी हो रहा है। मैंने इस अराजकता को दूर कराने के लिए अपने सारे प्रयास कर लिए, परन्तु सफलता नहीं मिली। अब तो मैं २००८ में हुए हृदयाघात और २००९ में हुए पक्षाघात के कारण कहीं जा-आ पाने में भी असमर्थ हो गया हूँ। अतः सब कुछ ईश्वराधीन कर स्व-स्थान पर रह कर ही जो कुछ कर सकता हूँ, वह लेखन और प्रकाशन का कार्य करता रहता हूँ और जब तक श्वाँस चल रही है, तब तक करता भी रहूँगा।

"परोपकारिणी सभा ने अपना जो ३७वाँ संस्करण छापा था, उसे पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने तो जलाकर नष्ट कर देने तक का परामर्श दे डाला था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ अपितु उसके अगले दो संस्करण भी और निकल चुके हैं। आपने एक सच्चे आर्य होने के नाते उसका एक मानक संस्करण प्रकाशित करने का सदुद्योग किया परन्तु उसे भी परोपकारिणी सभा के संस्करण के समर्थकों ने विवादास्पद बना दिया। इधर गोविन्दराम हासानन्द ने भी हाल में ही अपना वह संस्करण दुबारा प्रकाशित करने की घोषणा की है जो उसने ८५ वर्ष पूर्व १९२५ में सर्वप्रथम प्रकाशित किया था। दरअसल सत्यार्थप्रकाश विषयक अराजकता तो तभी से आरम्भ हो चुकी थी जो अब अपने चरम पर है। वैसे मेरा व्यक्तिगत विचार तो यह है कि महर्षि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन केवल उनकी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के माध्यम से ही उनकी अपनी वसीयत के परिपालन में होना चाहिए। अन्य किसी को भी यह अधिकार नहीं होना चाहिए। इसलिए सम्पूर्ण आर्यजगत् को परोपकारिणी सभा पर यह दबाव बनाना चाहिए कि वह अब समस्त आर्यविद्वानों के सहयोग से एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करे और भविष्य में उसी के अनुरूप सभी संस्करण प्रकाशित किए जावें जो आज के कम्प्यूटर के इस युग में कर पाना सर्वथा सम्भव हो गया है क्योंकि अब बार-बार कम्पोजिंग कराने और फलस्वरूप नई-नई अशुद्धियाँ हो जाने के अवसर ही समाप्त हो गए हैं।"

ऐसी स्थिति में आप जो एक नई संस्था 'राष्ट्रीय आर्य मंच' के नाम से खड़ी करने का प्रयास कर रहे हैं उसका भी परिणाम वही निकलेगा जो अब तक ऐसी संस्थाओं का निकलता रहा है। इसके संकेत भी आपको

मिलने आरम्भ हो गए हैं। *यथा-*

१- "यह जो गुरुकुल गौतम नगर का प्रस्ताव अस्तित्व में आया है, उसे तभी क्रियान्वित किया जा सकेगा, जब सार्वदेशिक सभा के तीनों गुट व प्रादेशिक सभा सहजभाव से इसे स्वीकार करेंगे और लागू करने में अपना सक्रिय योगदान भी देंगे। यह कार्य केवल अपने बलबूते पर 'आर्यसमाज पुनर्गठन समिति' नहीं कर सकती। --- लेकिन अक्तूबर, २००९ से फरवरी, २०१० तक के पाँच महीनों में ये सभी चारों पक्ष अभी तक न तो इस प्रस्ताव को अपना समर्थन दे पाए हैं, न असहमति जता पाए हैं और न ही इस प्रस्ताव की कमियाँ दर्शाते हुए अपना कोई सुझाव दे पाए हैं।"

-कर्मयोगी, फरवरी, २०१० (पृ० ३)

२- "इस समस्या का समाधान व्यवस्था-परिवर्तन के जिस सूत्र से निकाला गया है, उसका तब तक कोई औचित्य नहीं बनता जब तक कि सार्वदेशिक सभा से सम्बद्ध चारों पक्ष इसे स्वीकार व लागू करने पर सहमत न होंगे।" -कर्मयोगी, अप्रैल, २०१० (पृ० १)

३- "इस पुनर्गठन समिति की अपने उद्देश्य में सफलता या विफलता मूलत: उक्त चारों गुटों के सहयोग-असहयोग पर निर्भर करेगी क्योंकि सत्ता प्रतिष्ठानों पर इन्हीं का कब्जा गत छह वर्षों से बना हुआ है और इन्हीं की मुकद्दमेबाजी चल रही है।" -कर्मयोगी, अप्रैल, २०१० (पृ० ३)

४- "अत: आर्यसमाज का भविष्य इन चारों की मुट्ठी में कैद है। इनकी मुट्ठी खुलेगी या बन्द रहेगी, इसका जबाव हम नहीं, २५ अप्रैल (२०१०) ही दे सकेगी।" -कर्मयोगी, अप्रैल, २०१० (पृ० ३)

५- व्यवस्था-परिवर्तन के प्रस्ताव पर जिस तरह का मौन तमाम गुटों ने साधा है, वह आश्चर्यजनक है जिससे उनकी लाचारी या विवशता झलकती है।"

-कर्मयोगी, अप्रैल, २०१० (पृ० ३)

६- "यह प्रयास सार्वदेशिक सभा से सम्बद्ध चारों धड़े संयुक्तरूप से करें अन्यथा किसी बाहरी एजेंसी के चाहने भर से यह कार्य सम्पन्न नहीं होगा।" -कर्मयोगी, अप्रैल, २०१० (पृ० ३)

७- "सार्वदेशिक सभा के सभी पक्षों ने एकता बैठक का बहिष्कार किया। दोहरा चरित्र जीने वाले आर्य नेता समाज से वफादारी नहीं, गद्दारी कर रहे हैं। आर्य जनता न जागी तो आर्यसमाज का बण्टाढार निश्चित।--- उन्होंने सामान्य शिष्टाचार का परिचय देते हुए दिनांक २७-१०-२००९ के पत्र का उत्तर देना भी उचित नहीं समझा। नवम्बर, २००९ से लेकर अप्रैल, २०१० तक---- लेकिन किसी भी पक्ष ने अपना मौन भंग नहीं किया।"

-कर्मयोगी, मई, २०१० (पृ० १)

८- "२५ अप्रैल (२०१०) की बैठक में इक्कीस व्यक्तियों में से केवल पाँच व्यक्ति ही भाग लेने पहुँचे जिनमें सार्वदेशिक सभा के चारों पक्षों में से एक भी व्यक्ति नहीं था।" -कर्मयोगी, मई, २०१० (पृ० २)

९- " संगठन में व्यवस्था-परिवर्तन लाकर इसे संजीवनी पान कराने का जहाँ तक प्रश्न है तो किसी भी प्रतिनिधि सभा ने, आर्यसमाजी पत्रिका ने इसमें रुचि नहीं दिखाई है।---- अराजकता की स्थिति बन जाएगी, इस खतरे को समझने वाले आर्यसमाज में कितने लोग हैं?"

-कर्मयोगी, जून, २०१० (पृ० ३)

१०- "२ अक्टूबर, २००९ को गुरुकुल गौतम नगर, नई दिल्ली में आयोजित एक चिन्तन गोष्ठी में सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि सार्वदेशिक सभा के गुटों में फूट, मुकद्दमेबाजी और चुनाव को लेकर जो संघर्ष चल रहा है, उसका परिमार्जन सभाओं को ट्रस्ट का स्वरूप प्रदान कर किया जावे।"

-कर्मयोगी, अगस्त, २०१० (पृ० ३)

११- "कम से कम इतनी सद्बुद्धि तो अवश्य दिखाई जानी चाहिए थी कि सुझाए गए एकता सूत्र पर सार्वदेशिक सभा के ही सभी पक्ष बैठकर परस्पर संवाद करते, चिन्तन करते और किसी निष्कर्ष पर पहुँचते।"

-कर्मयोगी, अगस्त, २०१० (पृ० ३)

१२- "देश-विदेश की किसी प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा ने इस कारण गौतम नगर प्रस्ताव को लेकर दबाव बनाना आवश्यक नहीं समझा कि सार्वदेशिक सभा के नियन्त्रण में मुक्त होकर उन्होंने जीना सीख लिया है और इसी में उन्हें मजा आने लगा है।" -कर्मयोगी, अगस्त, २०१० (पृ० ३, ४)

१३- "लेकिन गुरुकुल गौतम नगर प्रस्ताव को तारपीडो करके सभी पक्षों

ने अपनी मानसिकता और दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है कि वे सुधरने वाले नहीं हैं।"
–कर्मयोगी, अगस्त, २०१० (पृ० ४)

१४- "इस स्थिति में सत्ता-प्रतिष्ठानों पर नेतागण ही प्रभावी रहेंगे। घर बार छोड़कर जो संन्यासी या वानप्रस्थी हो गए हैं, जो आर्यसमाजों में पुरोहिताई करते-करते बूढ़े हो गए हैं, जिनकी कमर साहित्य लेखन करते-करते झुक गई है, जो युवकों में आर्यसमाज के संस्कार डालने का प्रयास कर रहे हैं, जो महिलाओं में ऋषि दयानन्द के मिशन को जीवित रखे हुए हैं, ये सभी वर्ग आखिर कब तक सभाओं द्वारा अस्पृश्य माने जाते रहेंगे और इन्हें कब तक सभाओं से दूर रखा जाएगा?"
–कर्मयोगी, अगस्त, २०१० (पृ० ४)

१५- "जिन लोगों को किन्हीं कारणों से गुरुकुल गौतम नगर प्रस्ताव रास नहीं आ रहा है, वे आर्यसमाज के हितैषी कम विनाशक अधिक हैं।"
–कर्मयोगी, अगस्त, २०१० (पृ० ४)

१६- "यह खेल आगे कब तक चलता रहेगा, इसकी समय सीमा तय करना नियति के हाथ में है, इंसान के हाथ में नहीं।"
–कर्मयोगी, अगस्त, २०१० (पृ० ७)

१७- "व्यवस्था-परिवर्तन के जिस सूत्र का उल्लेख हमने किया, उसी पर सहमति पाने के लिए सार्वदेशिक सभा के सभी गुटों को गत २५ अप्रैल (२०१०) को गुरुकुल गौतम नगर में सादर आमन्त्रित किया गया था, लेकिन कोई भी गुट वहाँ उपस्थित नहीं हुआ।" –कर्मयोगी, अगस्त, २०१० (पृ० ७)

१८- "आज का कटुसत्य यही है कि आर्यसमाज में ऐसे सक्षम नेतृत्व का सर्वथा अभाव है। अतः इसका भविष्य अनिश्चितता की भँवर में फँसा दिख रहा है। खेद इस बात का है कि जगाने पर यह नेतृत्व जग नहीं रहा है, हिलाने पर हिल नहीं रहा है और उठाने पर उठ नहीं रहा है।"
–कर्मयोगी, नवम्बर, २०१० (पृ० ३)

१९- "हम केवल प्रार्थना ही कर सकते हैं अथवा सम्बद्ध पक्षों को झकझोर सकते हैं लेकिन उनका विवेक तो तभी जगेगा जब वे ऋषिवर का उपकार मानेंगे, जब वे संस्था पर रहम खाएँगे और इसकी दयनीय स्थिति देख संवेदनशील होंगे, गम्भीर होंगे।" –कर्मयोगी, नवम्बर, २०१० (पृ० ४)

२०- "यह नकारात्मक नेतृत्व न केवल पिछले एक वर्ष से गुरुकुल गौतम नगर प्रस्ताव को तारपीडो कर रहा है, इसकी अनदेखी कर रहा है बल्कि उस पर चिरन्तन मौन भी साधे हुए है।" -कर्मयोगी, दिसम्बर, २०१० (पृ० ६)

इस प्रकार मैंने जो अपने ३० नवम्बर, २००९ के पत्र में लिखा था, वही प्रमाणित हो रहा है। इससे आपने जो गुरुकुल गौतम नगर प्रस्ताव तैयार किया था, वह समस्या को समझने में असमर्थ रहा है। आर्यसमाज आज जिस समस्या से वस्तुतः ग्रस्त है, वह है उसके सदस्यों का नैतिक अथवा चारित्रिक पतन। जब तक आर्यसमाज के सदस्यों का चारित्रिक उत्थान नहीं होगा, तब तक उसका उत्कर्ष नहीं हो सकेगा और न ही लड़ाई-झगड़े और लूट-खसोट ही रुक सकेगी। आर्यसमाज की संस्थाओं के व्यक्तियों का जब तक चरित्र न्नत रहा तब तक इसी आर्यसमाज के सार्वदेशिक सभा सहित विभिन्न संगठनों ने अतीत में उल्लेखनीय सफलताएँ अर्जित कीं और यश कमाया। लेकिन जैसे-जैसे उसके सदस्यों का नैतिक पतन होता गया, वैसे-वैसे उसका संगठन भी अधोगति को प्राप्त होता गया और आज वह उस स्थिति में पहुँच गया है, जहाँ उसके हितेच्छुकों को अरण्यरोदन करना पड़ रहा है।

निर्वाचन पद्धति को हटाकर इसीलिए न्यासगठन भी कोई कारगर उपाय नहीं होगा। आज महर्षि दयानन्द द्वारा गठित एकमात्र न्यास **'परोपकारिणी सभा'** के रूप में विद्यमान है। किसे पता है कि इसके वर्त्तमान में २३ सदस्य कौन-कौन हैं? इसका वार्षिक आय-व्यय और बजट क्या है? उसकी क्या गतिविधियाँ हैं? इसकी कब-कब साधारण सभा अथवा सामान्य बैठकें होती हैं और उनमें क्या-क्या निर्णय लिए जाकर उन पर क्या-क्या कार्यवाही होती है? इस प्रकार यह संस्था कागजों में जीवित है। अवश्य ही इसका लोगों को **'परोपकारी'** पत्रिका के माध्यम से कुछ परिज्ञान होता रहता है, अन्यथा वह भी नहीं होता। यह संस्था स्वामी जी के ग्रन्थों तक के प्रामाणिक संस्करण आज तक नहीं प्रकाशित कर सकी। इसके एकमात्र सर्वेसर्वा आजकल प्रो० धर्मवीर जी बने हुए हैं, जिनसे उसके हितैषी डॉ० रघुवीर वेदालङ्कार तक सन्तुष्ट नहीं हैं। आप और हम तो बहुत पीछे आते हैं। इस संस्था में सुधार और विस्तार के लिए मैंने १९९१ में अपने कुछ सुझाव दिए थे जो **'परोपकारी'** में छप भी चुके हैं, पर हुआ कुछ नहीं। स्वयं महर्षि दयानन्द ने अपनी इस संस्था से जो अपेक्षाएँ की थीं, वे भी कहाँ पूरी

हुई? इसके लिए प्रत्येक को स्वामी जी के **स्वीकारपत्र** को पुनः पढ़ना चाहिए।

टंकारा ट्रस्ट भी श्री नानजी भाई कालीदास मेहता द्वारा क्रय की गई सम्पत्ति की सुरक्षा एवं व्यवस्था करता है जिसके सर्वेसर्वा आजकल श्री रामनाथ जी सहगल हैं। **सत्यार्थप्रकाश न्यास** उदयपुर के सर्वेसर्वा उसके कार्यकारी अध्यक्ष श्री अशोक जी आर्य हैं। इसकी सम्पत्ति स्वामी तत्त्वबोध जी सरस्वती ने क्रय करके प्रदान की थी। मथुरा में विरजानन्द न्यास की सम्पत्ति मुम्बई के सेठ श्री प्रताप जी शूरजी वल्लभदास ने क्रय करके प्रदान की थी। इस प्रकार न्यास प्रायः वैयक्तिक सम्पत्तियों की ही प्रबन्धक संस्थाएँ होती हैं जिनके कहने के लिए तो कई एक सदस्य होते हैं, परन्तु व्यवहार में उसका सर्वेसर्वा कोई एक ही व्यक्ति होता है। आर्यसमाज सामूहिक रूप से किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है जिसकी संस्थाएँ किसी न्यास के रूप में गठित की जा सकें। यह एक सार्वजनिक संस्था है, इसलिए उसका गठन निर्वाचन प्रणाली के माध्यम से ही करना होगा। देश की संसद और प्रान्तीय विधान सभाओं का गठन भी निर्वाचन के द्वारा ही होता है। देश का जो संविधान है, उसमें समय-समय पर संशोधन और परिवर्धन आवश्यकतानुसार अवश्य करते रहने पड़ते हैं। लेकिन इनके प्रतिनिधियों में जो चारित्रिक दोष आ गए हैं, उन्हें किसी प्रकार दूर करने की आवश्यकता है, न कि इस लोकतन्त्रात्मक प्रणाली को ही समाप्त करके पुनः राजतन्त्र को (एक प्रकार का न्यास ही) अपना लिया जाए।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा और प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं का अतीत गौरवपूर्ण रहा है। गुरुकुल काँगड़ी और गुरुकुल वृन्दावन जैसी संस्थाओं का अतीत भी गौरवशाली रहा है, क्योंकि तब इनके संचालकगण त्यागी, तपस्वी और सदाचारी लोग हुआ करते थे। अब तो कोई भी आर्य न रहकर ये सब जालसाज और तिकड़मबाज ही बन गए हैं। इसलिए उनके द्वारा संचालित संस्थाओं में तिकड़मबाजी और मुकद्दमेबाजी का बोलबाला है और संस्थाओं की सम्पत्ति की लूट-खसोट जारी है। मैं जब अपनी आर्यसमाज का प्रधान (१९९१-९३) था तो कुछ लोगों ने मुझे निश्चिन्तता पूर्वक कार्य नहीं करने दिया और मेरे मार्ग को कंटकाकीर्ण ही बनाए रक्खा। लेकिन उस संघर्षकाल के दो वर्षों में भी विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में हमने जो उपलब्धियाँ अर्जित कीं वे मुझसे पिछले प्रधान के कार्यकाल से ड्योढी-दोगुनी

तक रही थीं। अन्ततोगत्वा वार्षिक निर्वाचन के लिए सारी प्रक्रिया पूरी करके मैंने निर्वाचन से कुछ घण्टे पहले ही त्यागपत्र दे दिया और अज्ञातवास में चला गया। इससे मेरी अनुपस्थिति में जो व्यक्ति प्रधान निर्वाचित हुआ अब वही व्यक्ति पिछले १८ सालों से प्रधान बना हुआ है। वही व्यक्ति मेरे प्रधान बनने से पूर्व भी पिछले कोई १०-१२ वर्षों से प्रधान बना हुआ था और अब तो अपनी प्रान्तीय सभा का प्रधान तक बना हुआ है। इससे और कुछ चाहे भले ही न हो, पर लड़ाई-झगड़ा तो बन्द ही हो गया है और मैं अब अपने घर में शान्तिपूर्वक जी रहा हूँ। इस आर्यसमाज की आज वही स्थिति है जो आपने अपने इन शब्दों में व्यक्त की है कि साप्ताहिक सत्सङ्ग के समय यज्ञवेदी पर बैठने वाले चार व्यक्ति भी नहीं जुट पाते हैं। क्या सार्वदेशिक और प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं के अधिकारीगण हमारा ऐसा अनुकरण करने का साहस जुटा पाएँगे? यदि जुटा लें तो फिर वह समस्या ही समाप्त हो जाए जो आज आर्यसमाज में गम्भीर रूप धारण कर चुकी है।

आपने लिखा है कि "यही कारण है कि समूचे आर्यसमाज में हमें पाँच साधु-संन्यासी भी ढूँढ़े से ऐसे नहीं मिले जो पंच-परमेश्वर की भूमिका निभाकर आर्यसमाज के डूबते जहाज को बचा सकें।"

-कर्मयोगी, दिसम्बर, २०१० (पृ० ६)

आर्यसमाज में ऐसे निर्विवाद और त्यागी-तपस्वी ७ संन्यासी अवश्य उपलब्ध हैं, जिन्हें आर्यसमाज की बागडोर सौंपकर निश्चिन्त हुआ जा सकता है। मेरी दृष्टि में ये सात संन्यासी निम्न हो सकते हैं-

१- स्वामी विवेकानन्द सरस्वती (मेरठ)
२- स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती (ज्वालापुर)
३- स्वामी धर्मानन्द सरस्वती (गुरुकुल आमसेना)
४- स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती (गुरुकुल गौतमनगर, दिल्ली)
५- स्वामी सुमेधानन्द सरस्वती (चम्बा)
६- स्वामी आर्यवेश जी (दिल्ली)
७- आचार्य बलदेव जी नैष्ठिक (हरियाणा) जो भी अब संन्यासी ही हैं।

यदि आप इन सात संन्यासियों को इस बात के लिए मना सकें कि वे सब अपना अन्य सब काम छोड़कर एक जुट होकर पहले सार्वदेशिक सभा के सभी पक्षों के प्रधानों से उनकी अन्तरङ्ग सभाओं सहित त्यागपत्र प्राप्त कर लें

और उनसे न्यायालय से प्रकरण भी वापस करा लें तो वे सब बाद में मिलकर सार्वदेशिक सभा और प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं का (जहाँ-जहाँ भी विवाद हैं) सर्वसम्मत निर्वाचन करा देंगे और इन संस्थाओं के संविधान की उन न्यूनताओं को भी सुझा देंगे जिनके अनुसार उनकी नियमावली में विधिवत संशोधन कराकर बाद में आर्यसमाज का पथ प्रशस्त हो सकेगा।

यही एकमात्र रास्ता है जिससे कुछ हो सकता है, अन्य कोई नहीं।

अब मैं आपकी कुछ अन्य टिप्पणियों पर अपना मन्तव्य प्रकट कर रहा हूँ-

टिप्पणी- (१) : "स्वामी मुनीश्वरानन्द (हापुड़), डॉ॰ वरुणमुनि (कोटा), प्रो॰ राजेन्द्र जिज्ञासु (अबोहर), सत्येन्द्र सिंह आर्य (मेरठ), आदित्यमुनि वानप्रस्थ (भोपाल) और डॉ॰ अग्निव्रत नैष्ठिक आदि अनेक नाम हैं, जो अपनी मुखर वाणी और लेखनी से ऐसे अवसरों पर अपनी बेवाक और निर्भीक प्रतिक्रिया प्रकट करने में संकोच नहीं करते और दयानन्दी तेवरों को बनाए रहते हैं।" **-कर्मयोगी, अक्टूबर, २०१० (पृ॰ ३)**

मेरा मन्तव्य : "स्वामी मुनीश्वरानन्द जी से तो मैं अभी तक कभी मिला नहीं हूँ और न उनसे मेरा कोई वैयक्तिक परिचय अथवा पत्र-व्यवहार ही है। अवश्य ही उनके कुछ लेख मैंने पढ़े हैं। डॉ॰ वरुणमुनि जी से तो मैं तब से परिचित हूँ जब उन्होंने **'आर्य लेखक परिषद्'** की स्थापना की थी। उनसे मेरा पत्र-व्यवहार और दूरभाष पर वार्तालाप भी कभी-कभार होता ही रहता है। उन्होंने वेद विषय पर अपना एक लेख आपके सम्पादन में **'वैदिक सार्वदेशिक'** में जनवरी, २००८ के अङ्क में छपवाया था जो हमारी आलोचना में था। इसका जो विस्तृत उत्तर तब मैंने दिया था, वह **'वैदिक सार्वदेशिक'** के तीन अङ्कों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। इसका उनकी ओर से अथवा अन्य किसी की ओर से अब तक भी प्रतिकार नहीं किया गया है। इसी कड़ी का अन्तिम लेख **'आदित्यप्रकाश *(षष्ठकिरण)*'** में अब प्रकाशित मेरा लेख- **'सत्यार्थप्रकाश का अष्टम समुल्लास और वेद'** है। इसका भी अभी तक किसी की ओर से कोई प्रतिकार नहीं किया गया है। उनका अन्तिम पत्र जो मेरे पास आया था वह स्वामी अग्निवेश जी से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने विषयक था। उनका पिछला फोन भी तब आया था जब उन्हें **'आदित्यप्रकाश'** की एक किरण अधूरी ही प्राप्त हुई थी, जो मैंने उन्हें पुनः

भेज दी थी। मैंने भी उन्हें गत ३ दिसम्बर को एक पत्र लिखा था जिसके चाहे अनुसार मेरा काम तो उन्होंने कर दिया परन्तु उनकी ओर से पत्र के रूप में कोई लिखित उत्तर नहीं आया। कदाचित् अब वे अपनी अस्वस्थता के चलते हुए कुछ निष्क्रिय-से हो गए हैं।

प्रो॰ राजेन्द्र जिज्ञासु जी हमसे कुछ मतभेद रखते हुए भी अतीत में हमारे प्रशंसक रहे हैं। इसीलिए वे विभिन्न मंचों से यदाकदा हमारी प्रशंसा भी करते रहे हैं। **'आर्यसेवक'** के शताब्दी समारोह में उन्होंने मेरी वेदाध्ययन की जो प्रशंसा की थी उसके तो टेप तक मौजूद हैं। उन्होंनें मुझे **'आर्यसेवक'** को साप्ताहिक पत्र बना देने तक का परमर्श देते हुए उसके एक सौ नए ग्राहक बनाकर देने का वचन दिया था। वे उस समय मेरी सम्पादनकला के भी प्रशंसक थे, परन्तु आजकल उनका हमारे विषय में स्वर तब से कुछ बदल गया है जबसे मैंने वेद के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट किया है। इसका वे **'कुछ तड़प- कुछ झड़प'** शीर्षक वाले अपने लेख में यदाकदा उल्लेख भी करते रहते हैं। अत: बार-बार ऐसे उल्लेखों को पढ़कर मैंने उन्हें और उस लेख को प्रकाशित करने वाले सम्पादक जी को जो पत्र लिखा था उसकी एक प्रति संलग्न है। इतना होने पर भी मैं उन्हें अपनी ओर से पहले **'आर्यसमाज प्रहरी'** और अब **'आदित्यप्रकाश'** नियमितरूप से भेजता रहा हूँ ताकि संवादहीनता की स्थिति न बने और वे मेरे विचारों से अवगत बने रहें। लेकिन पहले तो उन्होंनें **'आर्यसमाज प्रहरी'** के दो अङ्क 'Retured to the Sender' लिखकर वापस कर दिए थे और अब **'आदित्यप्रकाश** *(षष्ठ किरण)*' भी। इस प्रकार अब इनसे मेरा सम्बन्ध-विच्छेद सा हो गया है। फिर भी यदि कभी कहीं उनसे भेंट हो गई तो उन्हें वह आदर और सम्मान मैं अवश्य दूँगा जिसके कि वे हकदार हैं क्योकि मैं तो अपने पिता जी के इस उपदेश पर आचरण करता हूँ-

मत-भेद नहीं यदि चाहते तो, तुम आपस में मत, भेद करो।
छल-छेदन की मन, कामना तो, मन-कामना के छल-छेद भरो।।
करना नहीं तो चुप रहना भला, कहिके पग पीछे कभी न धरो।
औरों की खुशी में हँसो तुम भी, पर अपनी लोक-हँसी से डरो।।

श्री सत्येन्द्रसिंह जी से मैं कभी प्रत्यक्ष नहीं मिला हूँ। वे **'आर्यसमाज प्रहरी'** के ग्राहक अवश्य थे। तब २००७ में मेरे उसमें प्रकाशित वेद विषयक एक सम्पादकीय लेख को पढ़कर उन्होंने **'आर्यसमाज प्रहरी'** का वार्षिक

शुल्क आगे न भेजने के विषय में मुझे एक पोस्टकार्ड पत्र लिखा था। बाद में '**परोपकारी**' में वेदों में पुनरुक्तियों को लेकर उन्होंने मेरी आलोचना करते हुए भी एक लेख लिखा था, जिसके उत्तर में मैंने उन्हें एक पत्र भेजकर उनसे एक प्रश्न पूछ लिया था जिसका उत्तर पिछले चार सालों में भी नहीं आया है। फिर भी मैं उन्हें पहले '**आर्यसमाज प्रहरी**' और बाद में '**आदित्यप्रकाश**' अब तक भेजता चला आ रहा हूँ जिन पर उनकी कभी कोई प्रतिक्रिया प्राप्त नहीं हुई। इस प्रकार उनसे संवादहीनता की स्थिति बनी हुई है।

श्री अग्निव्रत नैष्ठिक से भी मैं कभी नहीं मिला हूँ। उनके कुछ लेख मैंने अपने द्वारा सम्पादित पत्रों में अवश्य प्रकाशित किए हैं जिससे पत्राचार के माध्यम से उनके सम्पर्क में आया। जब उन्होंने वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिए यह संकल्प लिया कि यदि वे अगले १२ वर्षों में ऐसा सिद्ध नहीं कर पाए तो वे आत्महत्या ही कर लेंगे। तब मैंने उनके द्वारा इस निमित्त स्थापित न्यास को निरन्तर १,००० रु० वार्षिक सहायता भेजते रहने का आश्वासन देकर २००६ में प्रथम किश्त भेजी थी। अगले वर्ष उन्होंने इसे स्वीकार करने से मना कर दिया क्योंकि मैंने अक्टूबर, २००६ में ही आर्यविद्वानों से वेदविषयक सौ प्रश्न वेदप्रचारिणी सभा, नागपुर के माध्यम से पूछ लिए थे। बाद में वे उन्हें '**आर्यसमाज प्रहरी**' न भेजने का भी आग्रह करते रहे फिर भी मैंने उसे उन्हें भेजना बन्द नहीं किया। जब मैंने पं० उपेन्द्रराव का ग्रन्थ '**यजुर्वेद का अन्तरङ्ग**' उन्हें भेजा तो उसे उन्होंने पढ़ने से ही इन्कार कर दिया। अतः मैंने ३० रु० मनीआर्डर भेजकर वह ग्रन्थ उनसे वापस बुला लिया जिसे भेजने पर उन्होंने अपनी अज्ञानतावश ६८ रु० का डाकव्यय किया। इस कारण उनके सहयोगी मुझसे शेष ३८ रु० और चाहते थे जो मैंने नहीं भेजे क्योंकि उन्हें यह ग्रन्थ बुकपोस्ट से न भेजकर प्रिंटेडबुक के रूप में ही भेजना चाहिए था। उन्होंने हमारे वेदविषयक लेखों के विरोध में कई एक लेख भी लिखे और छपवाए, पर मेरे उत्तरों को किसी भी आर्यसमाजी पत्रिका ने नहीं छापा। इसलिए मुझे '**आदित्यप्रकाश**' करना पड़ा। अब इनसे भी मेरा पत्राचार बन्द है और संवादहीनता की स्थिति बनी हुई है।

इस प्रकार आपके लेखानुसार जो व्यक्ति आर्यसमाज में मुखर हैं और अपनी बेबाक वाणी और लेखनी से आजकल अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं, उन्हीं में परस्पर एक सूत्रात्मकता और परस्पर आत्मीयता तथा संवादशीलता नहीं है, तब आर्यसमाज का उद्धार कैसे होगा?

मेरा मानना है कि मतभिन्नता होने पर भी परस्पर मनभिन्नता नहीं होना चाहिए। इसलिए संवाद निरन्तर होते रहना चाहिए क्योंकि तभी आर्यसमाज के चौथे नियम का परिपालन सुनिश्चित हो सकेगा। अन्यथा तो जो जैसा मान रहा है, वह वैसा ही मानता रहेगा और अन्ततोगत्वा वह समाज से ही कटकर अलग हो जाएगा, जैसा कि अतीत में हो भी चुका है। हमें चाहिए कि हम सहमति के विन्दुओं की तलाश करके परस्पर संगठित हों, न कि असहमति के विन्दुओं को ढूँढ़-ढूँढकर परस्पर अलग-अलग होकर बैठ जाएँ। दुर्भाग्य से आज बाद वाली बात ही अधिक हो रही है। शतप्रतिशत मतैक्य तो किसी भी समाज में सम्भव नहीं है। अतः बहुमत को ही व्यवहार में स्वीकार करने की बात कही जाती है।

टिप्पणी- (२) : "हम आर्यसमाजी दुनिया भर के सम्प्रदायों और व्यवस्थाओं की कमियाँ निकालते हैं लेकिन अपनी कमियों को मानने व दूर करने से उदासीन हैं।" **-कर्मयोगी, अक्टूबर, २०१० (पृ० ४)**

मेरा मन्तव्य : ऐसा साहस करने वाले समाज में विरले ही हुआ करते हैं। मैंने कुछ साहस किया और वेदविषयक ऋषि दयानन्द के कुछ मन्तव्यों का खण्डन करने का और उनके वेदभाष्य की कुछ विसंगतियों को बताने का कार्य **'आदित्यप्रकाश *(षष्ठ किरण)*'** के माध्यम से किया है। अब देखना यह है कि आर्यसमाज के कितने लोग अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से कुछ ऊपर उठकर उन बातों को स्वीकार कर पाते हैं। जिन लोगों ने इन्हें स्वीकार किया है, वे ऐसा हमें अपने पत्रों अथवा दूरभाष के माध्यम से अवगत भी कराते रहते हैं। लेकिन ऐसे लोग बहुत थोड़े ही हैं। शेष तो दयानन्द के अन्धभक्तों की श्रेणी में ही गिनने के योग्य हैं जो फिलहाल मौन हैं।

टिप्पणी- (३) : "संस्था पर बलात अपनी नई विचारधारा लादने वाले व्यक्ति को इस भावी और नए संगठन में किसी भी स्तर का नेतृत्व प्राप्त नहीं होगा, ऐसी व्यवस्था अवश्य की जाएगी।"

-कर्मयोगी, फरवरी, २०१० (पृ० ३)

मेरा मन्तव्य : इसीलिए फिलहाल मैं आपकी संस्था की सदस्यता के लिए आवेदन नहीं भेज पा रहा हूँ। वैसे भी मैं आजकल अपने कमजोर स्वास्थ्य के चलते कहीं अकेले जा-आ पाने और सक्रिय होकर कुछ कर पाने में सर्वथा

असमर्थ हो गया हूँ। अतः घर पर रहकर ही जो कुछ लेखन और प्रकाशन का कार्य कर पाता है, वह करता रहता हूँ। इसे मैं आपको **'आदित्यप्रकाश'** के माध्यम से अवगत भी करता रहा हूँ और भविष्य में भी कराता रहूँगा।

प्रतिदिन निर्धारित दिनचर्या और औषधि सेवन, परहेज, आसन-प्राणायामादि का अभ्यास, छड़ी के सहारे घर के सामने वाली सड़क पर ही प्रातः-सायं भ्रमण, भोजन और फलाहार आदि करके जैसे-तैसे अपने को जीवित बनाए हुए हूँ। पता नहीं कब जीवन की शाम हो जाए और आदित्यास्त (सूर्यास्त) हो जाए!

भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ॰ शङ्करदयाल शर्मा का कथन : "मैं वेदों को किसी धर्म, जाति या क्षेत्र का ग्रन्थ नहीं मानता, बल्कि मैं इसे मानव जाति के पूर्वजों का ग्रन्थ मानता हूँ। **विश्व-मानव के पूर्वजों ने आज से हजारों साल पहले जो कुछ सोचा था, उसी का संग्रह वेदों में है।"**

-कर्मयोगी, नवम्बर, २०१० (पृ॰ ११)

मेरा मन्तव्य : मैं भी अब इसी निष्कर्ष पर पहुँच चुका हूँ। इसके लिए कृपया **'आदित्यप्रकाश** *(षष्ठकिरण)*' में मेरा लेख- **"वेद हमारे पूर्वज-ऋषियों के उद्गारों के सङ्कलन-ग्रन्थ है"** पढ़ें। यदि आप भी मेरे विचारों से सहमत हों तो उसके समर्थन में अपने **'कर्मयोगी'** में लेख भी लिखने का साहस बटोरें। अन्यथा यदि असहमत हों तो मुझे ही अपनी बातों से उसमें कोई लेख लिखकर सहमत करा लें। बहरहाल संवादहीनता की स्थिति नहीं बननी चाहिए जैसी कि मेरे साथ आजकल आर्यसमाज के अधिकांश विद्वानों ने बना रक्खी है।

आपका यह पत्र भी एक वर्ष से अधिक के अन्तराल के बाद आया है, जिसे और उसके साथ भेजे गए **'कर्मयोगी'** के ११ अङ्कों को पढ़ने में, तत्पश्चात् यह लम्बा उत्तर लिखने में इतना समय लग गया। यदि ऐसा न हुआ होता तो मुझे इतना समय क्योंकर लगता? यदि मैं भी आपकी तरह और अन्यों की तरह आपका पत्र पाकर उसे रखकर बैठ जाता तो क्या होता? लेकिन मेरी ऐसी प्रवृत्ति नहीं है। मैं सभी को पत्रोत्तर अवश्य देता हूँ, भले ही वे न दें।

'कर्मयोगी' के प्रकाशन के विषय में आपने मेरी योजना को नकार दिया है। लेकिन अब आप उसे दान माँग-माँग कर कब तक निकालते रह पाएँगे? इससे तो उसे कभी स्थायित्व ही प्राप्त नहीं हो पाएगा और न कोई

पाठक ही उसकी प्राप्ति के विषय में आश्वस्त हो पाएगा। मैंने अकेले ही जिस पत्र को १४ वर्षों तक शून्य से आरम्भ करके चलाया उसकी अपने बल-बूते पर ही ५,४०० प्रतियाँ तक प्रकाशित कीं। 'आर्यसेवक' भी एक प्रकार से मैंने शून्य से ही आरम्भ करके तीन वर्षों में २,००० की प्रसार संख्या के पार तक पहुँचाया था जिसमें उसकी दस वर्षीय ग्राहकीयता ही लगभग ८०० तक पहुँच गई थी। ११,०००-११,००० रु० देकर कई लोग उसके संरक्षक सदस्य भी बने थे। लेकिन कुछ विघ्न-सन्तोषियों ने आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्यप्रदेश व विदर्भ, नागपुर को ही दिसम्बर, २००४ में भङ्ग करा दिया और वे स्वयं उसके मालिक बन बैठे। तब से दो-दो प्रतिनिधि सभाएँ बन गई हैं और पिछले छः सालों से स्थिति जस की तस बनी हुई है। इस कारण १० वर्षीय ग्राहकों की पहले तो 'आर्यसमाज प्रहरी' भेजकर और बाद में अन्य प्रकाशित साहित्य भेज करके उनकी ग्राहकीयता की किसी प्रकार भरपाई मैंने की और संरक्षक बने सभी लोगों के भी ११-११ हजार रुपए मैंने २००९ में उन्हें वापस लौटा दिए। इस प्रकार मैंने उन्हें दिए गए अपने वचन का पालन किया जिसको उन्होंने सराहा भी। इस आशय के उनके पत्र मेरे पास मौजूद हैं। इस प्रकार जब तक मुझमें कुछ कर गुजरने का माद्दा रहा तब तक बहुत कुछ किया। अब जब असहाय हो गया हूँ तब क्या कर सकता हूँ, सिवाय आप जैसों को परामर्श देने के।

अब पत्र को यही विराम देता हूँ।

भवदीय,

आदित्यमुनि वानप्रस्थ

मो० 09425605823

■ डॉ० सुरेन्द्र सिंह कादियाण जी को यह पत्र स्पीड पोस्ट के माध्यम से भेजे हुए अब तक दो मास का समय व्यतीत हो गया है, परन्तु उनकी ओर से इस पत्र की प्रतिक्रिया में हमें अब तक न तो कोई पत्रोत्तर ही प्राप्त हुआ है और न 'कर्मयोगी' का कोई अङ्क ही।

■ श्रीमद्दयानन्द सत्यार्थप्रकाश न्यास (उदयपुर) के कार्यकारी अध्यक्ष श्री अशोक आर्य को भी रजिस्टर्ड पत्र और स्वामी दयानन्द का अपना जन्मचरित्र भेजे हुए अब तक तीन महीने हो चुके हैं, परन्तु उन्होंने भी अपनी ओर से हमें अब तक एक पोस्टकार्ड पत्र तक नहीं भेजा है, यद्यपि उनकी संस्था की विज्ञप्तियाँ प्रकाशनार्थ हमें निरन्तर मिलती रहती हैं।

– आदित्यमुनि वानप्रस्थ

'चतुर्वेदविदों से शत साङ्केतिक-प्रश्न' के गङ्गा प्रकाशन मन्दिर, भोपाल द्वारा प्रकाशित कन्नड-संस्करण की भूमिका का हिन्दी अनुवाद (अनुवादिका- श्रीमती एस॰ ए॰ सुधामणि राव)

यह बात विश्वप्रसिद्ध है कि "ऋग्वेद विश्वपुस्तकालय का प्रथमग्रन्थ है, ऋग्वेद के बाद आये यजुर्वेद (माध्यन्दिन शाखा), सामवेद तथा अथर्ववेद भी अपनी-अपनी विशिष्टता के द्वारा संसार में प्रसिद्ध हुए हैं। हजारों वर्षों से भी पहले रची गई ये चारों वेदसंहिताएँ उस समय की विशिष्ट-भाषा, कथनशैली, संस्कृति, व्यवहार तथा दर्शनों को सूक्ष्मरूप में प्रतिबिम्बित कर रही हैं।

ऋग्वेद तो सम्पूर्णरूप से एक महाकाव्य-ग्रन्थ है। उस काव्यरचना की शैली का अनुकरण करने के लिए संस्कृतभाषा के कवियों के द्वारा प्रयत्न किए जाने पर भी वे सफल नहीं हो पाये क्योंकि ऋग्वेद के अन्दर 'लौकिक-काव्य' न होकर 'दिव्यकाव्य' है। 'दिव्यकाव्य' अर्थात् आकाशीय- देवताओं की संगतियों का वर्णन करने वाला काव्य। उसमें पृथिवी के मानवों के बारे में उल्लेख ही नहीं है, ऐसा अर्थ इस उक्ति का नहीं है। वह भी है, परन्तु बहुत कम। ऋग्वेद की इस कमी को अथर्ववेद पूरा कर देता है। क्योंकि अथर्ववेद की रचना का उद्देश्य ही मानवों के स्वास्थ्य और आयु का अभ्युदय करना है।

ऋग्वेद की भाषा वर्तमान संकुचित-संस्कृतभाषा से बहुत विस्तृत है, बहुत विशिष्ट है, बहुत सुन्दर है, आसान है, काव्यरसात्मक है, कुम्भ में भरी हुई अम्बुधि के समान विशाल है। छलकता हुआ अर्थगाम्भीर्य है! इतने सारे विशिष्ट-गुणों से युक्त होने पर भी, हमें लब्ध इस ऋग्वेद की रचना एक ही समय में न होकर समय-समय पर निर्मित, मन्त्रों की संकलनमात्र है। इस कारण इसमें सैकड़ों मन्त्रों की पुनरुक्तियाँ हुई हैं। मन्त्रों की स्वाभाविक-रचना बहुत्र परिवर्तित कर दी गई है और साथ ही हजारों कृत्रिम-मन्त्रों की रचना भी समाविष्ट हो गई है। स्वाभाविक सात छन्दों के साथ ही अतिछन्दों के लगभग तीन सौ मन्त्र भी उसमें आ गये हैं।

ऐसा होने पर भी केवल ऋग्वेद ही विद्यमान होता, तो ठीक रहता। परन्तु ऋग्वेद का आश्रय लेकर और तीन वेदों का भी आगमन हुआ। यज्ञ के प्रयोजन के लिए यजुर्वेद की रचना हुई। त्रिदेव-स्तुति के लिए सामवेद का मन्त्रसङ्कलन हुआ। और अन्त में अनेकों हर्ष-विषाद तथा विस्मयों से युक्त

अथर्ववेद की रचना भी हो गई! इस तरह-

१- वेद एक न होकर अनेक हैं। इससे विसंगतियाँ उत्पन्न हो गई हैं।

२- सामवेद प्राय: ऋग्वैदिक-चयनित-मन्त्रों का संग्रहमात्र है। इससे सामवेद की मौलिकता पर, नैज-मन्त्ररचना-सामर्थ्य पर, प्रश्न-चिह्न लग गया है।

३- यजुर्वेद का एक तिहाई भाग वर्तमान ऋग्वेद के मन्त्रों को लेकर रचा गया है। इससे यजुर्वेद का याज्ञिक-प्रपञ्च ऋग्वेद पर निर्भर हो गया है।

४- अथर्ववेद का प्राय: एक-चौथाई भाग, वह भी विशेषरूप से उसका अन्तिम भाग, ऋग्वेद (और अन्य वेदों) पर आश्रित है। बहुमुखी अथर्ववेद का एक मुख (जादू-टोना) दाग़ों से युक्त होकर अनुज्ज्वल हो गया है। इसलिए उसकी अर्वाचीनता स्पष्ट है।

५- स्व-वेद से सैकड़ों पुनरुक्तियाँ, अन्य वेदों के सैकड़ों मन्त्रों का / मन्त्रांशों का उद्धरण, अनेक प्रकार का परिवर्तन, जैसा जी चाहा वैसा पाठान्तर इत्यादि हजारों बिन्दु हजारों प्रश्नों को पैदा कर रहे हैं।

६- वेद-काल, विशेषरूप से ऋग्वेद का बहुत प्राचीन है। इसलिए वर्तमानकाल में उसके अनेक मन्त्र अप्रासंगिक तथा अनिष्ट हैं।

७- वेदमन्त्र-मनुष्यों को सम्बोधित न करते हुए प्राकृतिक-देवताओं को सम्बोधित करते हैं। ये सारे सम्बोधन रूपरहित-देवताओं को सरूप और साथ ही साथ प्रत्यक्ष-सा भी बनाते हैं।

८- एक देवता अनेक तथा अनेक देवता एक भी हो जाते हैं।

९- वेद काव्यरूप होने से अलङ्कारों से भरे पड़े हैं। ये अलङ्कार ही स्वयं वेदों की प्रतिष्ठा के लिए घातक हैं तथा मनुष्यों की समझ के लिए भ्रम उत्पन्न करते हैं।

१०- वेदों के निर्देश देवताओं के लिए कहाँ हैं और मनुष्यों के लिए कहाँ हैं, यह स्पष्ट नहीं है।

११- मन्त्रों / सूक्तों के लिए किया गया ऋषि-निर्देश किसी मानदण्ड पर आधारित नहीं है। ऋषि-निर्देश की पद्धतियाँ क्लिष्ट हैं। एक ही मन्त्र का ऋषि अन्य स्थान में बदल जाता है।

१२- इसी प्रकार की स्थिति देवताओं की भी है।

१३- मन्त्रों की रचना में अनेकत्र छन्दानुशासन का पालन नहीं किया गया है। मन्त्रों की इयत्ता निर्धारित करने में मनमानी की गई है।

१४- मन्त्रों की रचना में दो पद्धतियाँ हैं-(क) स्वाभाविक और
(ख) कृतक।

कृतक-पद्धति में मन्त्रपाद मुख्य-आधार है। अतः उपलब्ध-पादों का संयोजन करके, कहीं वियोजन करके, कहीं समायोजन करके सहस्रों मन्त्र निर्मित हैं। (इस कारण ऐसे मन्त्रों का अर्थ क्लिष्ट होने से भाष्यकारों ने कल्पनाशीलता का आश्रय लिया है।)

१५- वेदमन्त्रों के चार स्तर हैं- (क) उत्कृष्ट, (ख) मध्यम, (ग) साधारण और (घ) निकृष्ट

इतनी प्रख्यात-विशिष्ट-भाषा की विशिष्ट-संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाले चारों वेदों को स्वधर्म के रूप में स्वीकार करने की इच्छा करने वाला आजकल का, आज की भाषाओं को जानने वाला एवं आज की संस्कृति में पला, विद्यार्थी और उसी तरह का अध्यापक भी, इन वेदों के अध्ययन और अध्यापन के समय अनेक-संशयों में फँस जाते हैं। उन संशयों के निवारण के लिए वे प्रयत्न भी अवश्य करते हैं। परन्तु इसके लिए वे किसके पास जाएँ? ऐसे संशय-निवारण करने वाले विद्वान् कहाँ रहते हैं? अथवा वे इस समय जीवित हैं भी? या नहीं?

विद्यार्थियों के चार स्तर हैं। इसी के अनुरूप अध्यापक तथा विद्वानों के भी चार स्तर हैं।

विद्यार्थियों के चार स्तर ये हैं-

(१) **बालबुद्धि-विद्यार्थी-**

इसे विषय का परिचय तो है, परन्तु विषय की जानकारी नहीं है। इसलिए वह प्रश्न करता है-

"वेद क्या है?, वेद कितने हैं?, वे कौन-कौन से हैं?" इत्यादि।

(२) **ज्ञानी-विद्यार्थी-**

इसे अध्ययन के द्वारा अथवा प्रवचन / भाषण सुनने के द्वारा थोड़ी जानकारी तो है। परन्तु यह और जानने का इच्छुक है। इसलिए प्रश्न करता है-

"चारों वेदों की रचना का उद्देश्य क्या है? इन वेदों का रचनाकार कौन है? कब रचना की? वेदों में पुनरुक्ति वाले मन्त्र क्यों हैं?" इत्यादि।

(३) **विवेकी-विद्यार्थी-**

इसे बहुत जानकारी है। कौन-सी चीज कैसी रहनी चाहिए, कैसी नहीं- यह विवेक भी है। इसलिए प्रश्न करता है-

"वेद एक ही होता, तो क्या पर्याप्त नहीं था? ऋग्वेद का बृहदाकार क्यों है? अथर्ववेद के जादू-टोने-जैसे अनिष्ट-मन्त्रों को क्यों नहीं हटाये

जाता?" आदि।

(४) **समीक्षक-विद्यार्थी-**

इसे विषय के गहन-दीर्घकालीन-अध्ययन-चिन्तन-इतिहासबोध-जन जीवन का उतार-चढ़ाव, देश और समाज का हित-भविष्य-चिन्तन, उन्नति-स्वातन्त्र्य, समृद्धि आदि की दूरदृष्टि होने के कारण, यह पूर्वाग्रहरहित होता है। इसलिए विशिष्ट-प्रकार से प्रश्न करता है-

"वर्णों के धर्म-कर्म की व्यवस्था वेदोक्त नहीं है; किन्तु स्मृत्युक्त है। उसका अभी भी क्यों पालन कर रहे हैं? शूद्रों का तिरस्कार क्यों कर रहे हैं? अपने विवेक को ताक में रखकर, ग्रन्थ-वचनों पर क्यों अन्ध-विश्वास रख रहे हैं? जगत् का स्वभाव है- परिवर्तन और प्रगति। आप परिवर्तन को न चाहकर पीछे जाने के लिए क्यों इच्छित हैं (Back to the Vedas)? कोई कुछ भी कहे, आप लोग वर्तमान-काल में जीवित रहते हुए भी उसके अनुसार ग्राह्य और अग्राह्य एवं सत्य और असत्य की विवेचना के साथ व्यवहार क्यों नहीं कर रहे हैं?" आदि।

अब अध्यापक, प्रवचनकर्ता, भाषण करने वाला, पुरोहित, लेखक, प्रचारक और विद्वानों के स्तर ये हैं-

(१) **बालबुद्धि-विद्वान्-**

यह जितना जानता है, उतना ही समझता है। अधिक जानने की इच्छा न होने के कारण, वह *'कूपमण्डूक'* के समान रहता है। इसे बालबुद्धि-विद्यार्थी बहुत प्रिय हैं। इसलिए वह उत्तर देता है-

"वेद का अर्थ है ज्ञान। वेद चार हैं। वे हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। बस इतना ही! इनसे अधिक कोई कहे, जैसे- 'अनन्ता वै वेदाः', अथवा इनसे कम हैं, ऐसा बताएँ, जैसे- 'वेद पहले एक ही था। व्यास जी ने उसे चार भागों में विभाजित किया अथवा 'ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद नाम के तीन ही वेद पहले थे, तो उनकी बात पर विश्वास मत करना, क्योंकि वे सब अनृषि हैं।"

(२) **ज्ञानी-विद्वान्-**

इसे पर्याप्त जानकारी रहती है। इसलिए दूसरों को अधिक से अधिक समझाने के लिए आतुर रहता है। इसे ज्ञानी-विद्यार्थी बहुत प्रिय हैं। इसलिए वह उत्तर देता है-

"सत्यविद्याओं के प्रदर्शन के लिए चार वेदों की रचना हुई। ईश्वर इन

वेदों का रचयिता है और कोई नहीं। कोई भी ऋषि वेदों की रचना करने में समर्थ नहीं है। इन वेदों को रचित होकर १९६ करोड़ आदि वर्ष हुए हैं। इससे कम अर्थात् 'दश हजार, पाँच हजार या तीन हजार वर्ष हुए हैं' ऐसा कोई कहे तो उसकी बातों को मत मानना। वेदों में पुनरुक्त-मन्त्र कोई नहीं हैं। ऐसा पुनरुक्त लगने पर भी वह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हर पुनरुक्त-मन्त्र का भी अलग-अलग अर्थ होता है।"

(३) विवेकी-विद्वान्-

यह अधिक जानकार और साथ ही विवेकी भी होता है। इसे विवेकी-विद्यार्थी बहुत प्रिय होता है। इसलिए वह उत्तर इस प्रकार देता है-

"वेद एक ही होता, तो अच्छा होता। क्योंकि ऐसा होता तो आज दिखाई देने वाली विसंगतियाँ और विरोधाभास नहीं होते अथवा बहुत कम होते।

"ऋग्वेद में अतिशय और अनावश्यकरूप से देवताओं की स्तुति विद्यमान रहने के कारण वह बृहदाकार में है। अथर्ववेद में विद्यमान अनिष्ट-मन्त्रों को यदि निकाल दिया जाए तो वह अन्य तीन वेदों के समान शुद्ध और कलंकरहित बन सकता है।"

(४) समीक्षक-विद्वान्-

यह विवेकी-विद्वान् से भी अधिक योग्य होता है। अपने में किसी भी प्रकार का अन्धविश्वास न रखकर यह वैज्ञानिक-मनोवृत्ति वाला होता है। यह सब विषयों का अध्ययन करके भी सबके सम्बन्ध में अपना (स्व-) अभिप्राय रखने वाला होता है। किसी को अन्तिम-सत्य न मानकर, सभी विचारों की जाँच-परख करके ही जो-जो सत्य लगे, उसे केवल तात्कालिकरूप से स्वीकार करता है और जो असत्य लगे, उसे उसी समय त्याग देता है। इस कारण यह निष्पक्षपातवादी होकर अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। अर्थात् यह किसी प्रलोभन में नहीं फँसता। किसी व्यक्ति का या किसी के विचारों का भी गुलाम नहीं होता। समीक्षक-विद्यार्थी इसको बहुत प्रिय हैं। इसलिए वह इस प्रकार उत्तर देता है-

"वर्णों की धर्म-कर्म की व्यवस्था किसी के द्वारा भी प्रवर्तित हो, उससे हमारे देश की हानि होकर देश अधोगति को पहुँच गया है। इसलिए इस व्यवस्था को तत्काल छोड़ देना चाहिए। शूद्रों को क्यों तिरस्कृत करना चाहिए? दुष्टों के अलावा किसी को भी तिरस्कृत नहीं करना चाहिए।

ग्रन्थवचनों की विवेचना किये विना उन पर अन्धविश्वास रखना मूर्खता है। आज से पहले जो था, वह हमारी पित्रार्जित-निधि है। वह कैसी भी हो, उसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। परन्तु उसका अनुसरण करने के लिए, उसकी तरफ ही कदम बढ़ाना उचित नहीं है। नींव में लगने-वाले पत्थरों को घर के ऊपरी हिस्से को बनाने के लिए उपयोग करना बुद्धिमानी का काम नहीं है। वर्तमानकाल के अनुकूल जीते हुए, प्रगतियुक्त क़दम बढ़ाते हुए आगे बढ़ना ही उत्तम है।

"नहीं तो, नामोनिशान मिटाकर, इतिहास से ग़ायब हो जाना आत्महत्या के समान निश्चित है।"

इस प्रकार विद्यार्थी अपने स्तर का निर्धारण करके, उसके अनुसार मिलने वाले विद्वान् के पास जाकर, प्रश्न पूछने पर, सही उत्तर मिल सकता है। नहीं तो, विपरीत-गुण वाले विद्वान् के पास जाकर प्रश्न करें, तो निराशाजनक उत्तर मिलना तो निश्चित ही है। परन्तु विद्यार्थी और विद्वान् दोनों को चाहिए कि वे एक ही सीढ़ी पर सदा के लिए खड़े न रहकर चौथी सीढ़ी तक पहुँचने का प्रयत्न करें। अन्यथा यदि वे किसी भी सम्प्रदाय की शरण में गये तो, कूपमण्डूक के समान उन्हें उसी सीढ़ी पर ही रहना पड़ेगा। अस्तु।

वेदों के बारे में पौराणिक-जगत् में अनेक प्रकार की अवधारणाएँ घर कर गयी थीं। उनमें परस्पर विरोध होने पर भी विवाद नहीं था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तरभारत में एक 'समाज' के स्थापित होने के बाद वेदों की अवधारणाओं के बारे में विवाद पैदा हो गये। क्योंकि उस 'समाज' के लोग अपनी ही नई अवधारणाओं को मिलाकर, अपने को जो सही न लगे उसका खण्डन करते हुए, 'हम ही सही, बाकी सब लोग ग़लत' ऐसी धारणा को लेकर आक्रमणशील हो गये। पौराणिक-जगत् में मूर्तिपूजा आदि अन्धविश्वासों के द्वारा हुई असमर्थता के कारण उनके पीछे रह जाने (पिछड़ने) पर, अथवा तत्परिणाम-स्वरूप यह 'समाज' अपने वर्चस्व के द्वारा बढ़ता हुआ दिखाई दिया। परन्तु प्रगति के बदले परागति की ओर कदम बढ़ाने के कारण इस 'समाज' में भी परस्पर फूट तथा दुर्गन्ध पैदा हो गई। फिर भी धैर्य के अभाव में उन्हें बलपूर्वक छिपा वा दबा दिया गया। परन्तु विवाद का धुआँ तो उठ ही गया!

विवाद के निराकरण के लिए प्रयत्न करते हुए, नागपुर (महाराष्ट्र)

की **'वेद प्रचारिणी सभा'** नामक संस्थावालों ने विवेकी-समीक्षक-वेदविद्वानों के द्वारा चारों वेदों से सम्बन्धित एक सौ साङ्केतिक-प्रश्नों को तैयार कराके उन्हें अक्टूबर, २००६ में उत्तर भारत के उस 'समाज' के ४० प्रसिद्ध-वेदविद्वानों को भेजकर, नागपुर में आयोजित होने वाले 'वेदसम्बन्धी-प्रश्नोत्तरार्थ-विद्वन्मिलनम्' नामक गोष्ठी में उत्तर देने के लिए आह्वानित किया।

परन्तु मार्च, २००७ तक किसी भी विद्वान् ने गोष्ठी में आने की अपनी सहमति नहीं दी। तब प्रश्नों के लिखित-उत्तरों को ३० जून, २००७ तक भेजने का और सही उत्तरों के दाता को दश हजार रुपये इनाम देने का प्रावधान करके पुनः उन विद्वानों को आहूवान भेजा गया।

इस अवधि में भी किसी ने उत्तर नहीं दिया। उसके बाद केवल चार विद्वानों के उत्तर ही बाहर आए। एक के द्वारा सौ प्रश्नों का व्यंग्यपूर्ण उत्तर* ! दूसरे के द्वारा किसी साप्ताहिक-पत्रिका को भेजे गए उत्तर।* तीसरे के द्वारा किसी मासिक-पत्रिका में भेजे गए ४२ प्रश्नों के उत्तर। एक चतुर्वेदा-विदुषी के द्वारा प्रश्नकर्ता की बार-बार निन्दा करते हुए ग्रन्थाधारित उद्धरणों के साथ, भेजे गए सौ प्रश्नों के उत्तर!

इन विद्वानों का प्रायः हर एक उत्तर कैसे असमर्पक और गलत है, इसका कारण बताकर उन्हें सूचित किया गया।

नागपुर की **'वेदप्रचारिणी सभा'** वालों के इस उद्देश्यस्थापना से निवृत्त होने के बाद भोपाल (मध्यप्रदेश) के **'गङ्गाप्रकाशन मन्दिर'** वालों नें इस साधना की जिम्मेदारी लेकर इन हिन्दी भाषा के सौ प्रश्नों को अँग्रेजी-अनुवाद के साथ **'चतुर्वेदविदों से वेद-विषयक शत साङ्केतिक-प्रश्न'** नाम के शीर्षक से मई, २००९ में द्वितीय-संस्करण के रूप में प्रकाशित किया। इस बार, इस पुस्तिका को दक्षिण-भारत में भी भेजा गया और बेचा गया।

दिनांक २६,२७ सितम्बर २००९ को धर्म-प्रतिष्ठान भवन, बसवनगुडि, बेंगळूरु में चली वेदगोष्ठी में इन प्रश्नों के बारे में चर्चा हुई। परन्तु प्रश्नों का उत्तर देना सुलभ-साध्य नहीं है, यह जानने के बाद फिलहाल इसे वहाँ छोड़ दिया गया; और विद्वानों के विवेक के आधीन कर दिया गया।

वेदों की वास्तविक-स्थिति की अवज्ञा करके अथवा उनकी अनभिज्ञता के कारण वेदों की तथा ऋषि-देवताओं की, महिमा के मण्डन के लिए अनेक असम्भव-अवधारणाओं की कल्पना करके कुछ विद्वान् लोग उनके

---

*　वस्तुतः ये दोनों भी एक ही व्यक्ति हैं।

जाल में फँस गये हैं। ऐसे ही विद्वानों के लिए ये साङ्केतिक-प्रश्न अब प्रस्तुत हुए हैं।

जो विद्वान् वेदों को उनके वास्तविक-धरातल पर देखते हैं तथा समझते हैं, उनके लिए ये प्रश्न नहीं हैं।

प्रश्न तो हजारों हो सकते हैं। परन्तु साङ्केतिकरूप से केवल सौ प्रश्नों को ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

इन प्रश्नों में कुल २९५ मन्त्र और मन्त्रांशों से युक्त ६४९ मन्त्र-सन्दर्भ हैं।

सम्प्रति, वेदों के विषय में चार सम्प्रदाय प्रचलित हुए हैं-

१-पौराणिक-सम्प्रदाय, २- ऐरोप्य विद्वानों के अनुयायियों का सम्प्रदाय, ३- आर्यसमाजियों का अथवा दयानन्द-सम्प्रदाय और ४- अरविन्द-सम्प्रदाय।

दयानन्द-सम्प्रदायवाले तो उत्तरों को भेजकर निवृत्त हो गये हैं। इसलिए शेष तीन सम्प्रदायस्थ-विद्वान् लोगों तथा निष्पक्षतावादी विद्वान् लोगों का अब यह कर्तव्य है कि वे इन प्रश्नों का कृपया उत्तर दें। यह हमारी उनसे विनम्र विनन्ति है। उत्तर प्राप्त होने के बाद प्रश्नकर्ता-विद्वानों की तरफ से हर उत्तर के लिए भी टिप्पणी प्राप्त करके उत्तरदातृ-विद्वानों को सूचित किया जाएगा। अन्त में सौ प्रश्नों के समर्पक तथा सही उत्तर पाने के बाद उन्हें प्रकाशित करने का यत्न किया जाएगा।

-प्रकाशक

यह ५२ + ४ पृष्ठीय कन्नड संस्करण २५ रु० में निम्न पते पर उपलब्ध है-

Shri V. R. Rao
2122, 7th Cross
R.P.C. Layout (Hampinagar)
BANGALORE-560104 (KA)
Phone : 080-23300130

चतुर्वेदविदों से वेद-विषयक शत साङ्केतिक-प्रश्नों और उनके आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा द्वारा दिए गए प्रातिनिधिक-उत्तरों पर प्रश्नकर्ता पं॰ वी॰ उपेन्द्रराव की टिप्पणियों से युक्त

'चतुर्वेदविद् : आमने-सामने'

ग्रन्थ

स्वामी अग्निवेश

(वैधानिक प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली एवं दूरदर्शन पर 'मन्थन' कार्यक्रम के प्रस्तोता)

द्वारा

'वैदिक सार्वदेशिक' साप्ताहिक पत्र में फरवरी, २००८ में की गई घोषणा के अनुपालन में अपने न्यास की ओर से १०,००० रु॰ की दत्त आर्थिक सहायता से प्रकाशनाधीन

कुल पृष्ठ संख्या- २७२ + ४ (आवरण); मुद्रित मूल्य- १०० रु॰

इस ग्रन्थ को पढ़कर पाठकों को वेदों के यथार्थस्वरूप का परिचय प्राप्त होगा तथा वे उन्हें गहराई से समझ और जान सकेंगे।

प्रत्येक आर्यसमाजी व्यक्ति को तो यह ग्रन्थ अवश्य ही अपने परम धर्म के अनुपालन में बुलाकर पढ़ना और अन्यों को पढ़ाना चाहिए।

जब तक **'आदित्यप्रकाश'** की यह किरण पाठकों के हाथ में पहुँचेगी तब तक ग्रन्थ प्रकाशित होकर हमें विक्रयार्थ उपलब्ध हो जाएगा। अतः अपना धनादेश भेजकर इसे अपने और अन्यों के अध्ययन के लिए अवश्य ही तत्काल बुला लेवें।

श्रावणी, २०६८ वि॰ तक प्रभावी विक्रय मूल्य

१- एक प्रति (साधारण डाक से)- ६० (साठ) रुपए
२- पाँच प्रतियाँ (रजिस्टर्ड डाक से)- ३०० (तीन सौ) रुपए
३- दश प्रतियाँ (रजिस्टर्ड डाक से)- ५८० (पाँच सौ अस्सी) रुपए

निवेदक:-

आदित्यमुनि वानप्रस्थ (मो॰ 09425605823)
एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर, कोलार रोड; भोपाल-४६२०४२

हमारे भावी प्रकाशनों के ग्राहक-सदस्य बनें

'आदित्यप्रकाश' की इस किरण के पृष्ठ-२ पर पं० वी० उपेन्द्रराव (भोपाल) के जिन दो ग्रन्थों के प्रकाशन की हमारी योजना प्रकाशित हुई है, उनके प्रकाशन के लिए हमें एक बहुत बड़ी राशि की व्यवस्था करनी पड़ेगी जो हम जैसे एक ७४ वर्षीय पेंशनभोगी के बस के बाहर की बात है। परन्तु कार्य की महत्ता को देखते हुए इन दोनों ग्रन्थों का प्रकाशन हम दोनों के (पं० उपेन्द्रराव और मेरे) शेष जीवनकाल में ही हो जाना नितान्त आवश्यक है। एतदर्थ अभी तक मात्र दो सज्जनों ने ही हमारे बैंक खाते में क्रमशः १,००० और १०,००० रु० जमा किए हैं। हम चाहेंगे कि और भी जो लोग इन प्रकाशनों को स्वयं प्राप्त करने और उनकी बिक्री कर कुछ द्रव्यलाभ करने के अथवा यथेच्छया वितरण करने के इच्छुक हों, वे क्रमशः पाँच हजार रुपयों के गुणकों में अथवा न्यूनतम १,००० रु० तो अवश्य ही हमारे निम्न बचत खातों में जमा करके अपने पते की जानकारी हमें दें-

खातेदार का नाम- **आदित्यपाल सिंह**
स्टेट बैंक आफ इण्डिया बचत खाता क्र०- **10064526230**
केनरा बैंक बचत खाता क्र०- **2626101013409**

पुस्तकें प्रकाशित होने पर ऐसे समस्त ग्राहकों को लागत मूल्य में ही इन पुस्तकों की कई-कई प्रतियाँ उनकी दत्त राशि के अनुपात में प्रदान की जाएँगी।

निवेदक,
आदित्यमुनि वानप्रस्थ
(मो० 09425605823)

एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर, कोलार रोड; भोपाल-४६२०४२

'मौनं स्वीकृति-लक्षणम्' ही सही

'आदित्यप्रकाश' की पिछली किरण में हमने अपने पाठकों को सूचना दी थी कि "अब हमने गत २७ सितम्बर, २०१० को **'यजुर्वेद का अन्तरङ्ग'** सहित पाँच पुस्तकें अध्ययनार्थ और समीक्षार्थ इस आग्रह के साथ डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार (ज्वालापुर) को भी भेज दी हैं कि वे **'वैदिक-पथ'** में इन पुस्तकों के विषय में अपना आशय यथासमय प्रकट करें।" परन्तु छः मास बीत गए, डॉ० साहब ने अब तक भी इन पर अपनी समीक्षा किसी पत्रिका में प्रकाशित नहीं कराई है और **'वैदिक-पथ'** तो अब हमें भेजना ही बन्द कर दिया गया है। —आदित्यमुनि वानप्रस्थ

गङ्गा प्रकाशन मन्दिर में विक्रयार्थ उपलब्ध साहित्य

क्र० पुस्तक का नाम	आकार	पृ० सं०	मूल्य (रु०)
१- यजुर्वेद का अन्तरङ्ग	२३x३६/१६	७२०(सजिल्द)	३५० रु०
२- चतुर्वेदविद् : आमने-सामने	२३x३६/१६	२७२ + ४	१०० रु०
३- जादू-टोना का प्रेरक यह तान्त्रिक अथर्ववेद	२३x३६/१६	८४	४० रु०
४- चतुर्वेदविदों से शत साङ्केतिक प्रश्न	२३x३६/१६	६८	३५ रु०
५- ऋषि दयानन्द का अपना जन्मचरित्र	२३x३६/१६	४९६(सजिल्द)	२०० रु०
६- ऋषि दयानन्द के अज्ञात जीवन की समस्या और उसका समाधान	२३x३६/१६	७६	२५ रु०*
७- मित्र-मञ्जूषा	२३x३६/१६	२४० (सजिल्द)	१०० रु०
८- आदित्यप्रकाश (१से ७ किरण)	२३x३६/१६	३३२	१०० रु०*
९-वर्ण-व्यवस्था बनाम जाति-व्यवस्था सत्यान्वेषण स्मारिका	२०x३०/८	२८८	४५ रु०*
१०-धर्मनिरपेक्षता बनाम धर्म-सापेक्षिता-सत्यान्वेषण स्मारिका	२३x३६/१६	३६०	१०० रु०*
११- 'आर्यसमाज प्रहरी' का धर्म-निरपेक्षता बनाम धर्म-सापेक्षिता राष्ट्रीय विचार संगोष्ठी विशेषाङ्क	२३x३६/१६	३००	४५ रु०*

इन पुस्तकों को प्राप्त करने के लिए उनकी कुल कीमत की कम से कम ८० प्रतिशत राशि (५०० रु० तक की राशि मनीआर्डर से ही भेजें। इससे अधिक राशि) हमारे (=आदित्यपाल सिंह के) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के बचत खाते क्र० **10064526230** अथवा केनरा बैंक के बचत खाता क्र० **2626101013409** में जमा करके हमें निम्न पते पर सूचित करें। —आदित्यमुनि वानप्रस्थ

एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर, कोलार रोड; भोपाल-४६२०४२

** इन पुस्तकों पर अब कोई छूट उपलब्ध नहीं है।*

ऋषि दयानन्द का 'अपना जन्मचरित्र' उपलब्ध है!

२४ वर्ष पूर्व संवत् २०४४ वि० (सन् १९८७) में हमारे द्वारा सम्पादित और प्रकाशित ४५६ पृष्ठीय उक्त ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण दो महत्वपूर्ण नए परिशिष्ट जोड़कर और पिछले २३ वर्षों में प्राप्त कुछ नई जानकारियों का समावेश करते हुए तथा अपनी टिप्पणियों में दी गई सभी तिथियों को भी २०० वर्षीय पञ्चाङ्ग (१८००-१९९९ ई०) के अनुसार संशोधित कर प्रकाशित किया गया है। इसके साथ ही इस संस्करण में ऋषि दयानन्द के विभिन्न स्थानों पर सं० १९२३ से लेकर सं० १९४० तक लिए गए ८ फोटोग्राफिक चित्रों के आधार पर कलाकार द्वारा बनाए गए रंगीन चित्र भी दे दिए गए हैं जिससे इस संस्करण की उपयोगिता और सुन्दरता और भी अधिक बढ़ गई है।

अत: जिन्हें भी यह बहुमूल्य ग्रन्थरत्न चाहिए हो, वे इस ५०० पृष्ठीय सजिल्द २०० रु० मुद्रित-मूल्य वाले आकर्षक शोधग्रन्थ ग्रन्थ के लिए उसके मूल्य में १० प्रतिशत छूट काटकर कुल १८० रु० हमें मनीआर्डर द्वारा अविलम्ब भेजकर अपनी प्रति तत्काल बुला लें। इसे भेजने पर होने वाले लगभग ३० रु० के डाक-व्यय को भी हम ही इसी मूल्य में वहन करेंगे।

-आदित्यमुनि वानप्रस्थ (मो० 09425605823)

एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर, कोलार रोड; भोपाल-४६२०४२

छपी-पुस्तक **(Printed-Book)**

प्रति,

आद-०६

आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा

जिज्ञासु स्मारक पाणिनि कन्या महाविद्यालय

महमूरगंज, तुलसीपुर

वाराणसी- २२१०१० (उ० प्र०)



प्रेषक:-

इं० आदित्यमुनि वानप्रस्थ

एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर, कोलार रोड

भोपाल-४६२०४२ (म० प्र०) **Mob. 09425605823**